International Journal of Geology, Agriculture and Environmental Sciences (peer reviewed journal)
Volume – 9 Issue – 1 January-June 2021 (Special Issue)
Website: www.woarjournals.org/IJGAES *ISSN: 2348-0254*

मौर्यकालीन कर व्यवस्था का अध्ययन

डॉ. रविन्द्र कुमार
सहायक आचार्य, इतिहास विभाग
महारानी बालिका पी. जी. महाविद्यालय,रामपुरा अलसीसर झुन्झुनूं

मौर्य साम्राज्य भारतीय इतिहास में प्रथम विस्तृत साम्राज्य के रूप में सुविज्ञ है, जिसकी सीमाएँ पश्चिमोत्तर से हिन्दूकश से लेकर दक्षिण में आधुनिक कर्नाटक तक तथा पश्चिम में मकरान से लेकर पूर्व में बंगाल तक विस्तृत थी। इस विशालतम साम्राज्य की समृद्धि और सम्पन्नता शाही खजाने पर निर्भर थी। शाही खजाना और उस पर आधारित ही राज्य व्यवस्था की निर्णायक होती है। राज्य के क्रियाकलापों का विस्तार और संकुचन उसी के अधीन रहता है। मौर्यकालीन तथा तत्समीपवर्ती साहित्य के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि इस समय के लोग इस तथ्य से पूर्णतः परिचित थे।

वार्ता

मौर्यकालीन शासक इस तथ्य से पूर्णतः अवगत थे कि देश की राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक विकास के लिए एक सुदृढ़ राजकोष आवश्यक है, इसलिए उन्होंने वार्ता के विज्ञान को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया, जिसका महाकाव्य काल में भी महत्त्वपूर्ण स्थान था।

महाभारत में स्पष्ट उल्लेख है कि वार्ता से संसार का पोषण होता है, इसलिए वह संसार का मूल है। इसे सर्वधा धारण करना चाहिए। इस पर ही सम्पूर्ण राजनीतिक ढाँचा निर्भर करता है।[1] कौटिल्य[2] ने भी वार्ता की महत्ता को स्वीकार करते हुए लिखा है कि कृषि, पशुपालन और वाणिज्य वार्ता के विषय है। वार्ता अत्यन्त उपयोगी है, क्योकि वह धान्य, पशु (मवेशी) स्वर्ण, कच्चेमाल तथा बेगार के रूप में अंशदान उत्पन्न करती है। वार्ता में इन साधनों से राजा अपने कोष और सेना को शक्तिशाली करके शत्रु को अधीन कर लेता है। मवेशी तथा ऐसी ही अन्य राजा के राजस्व की सुविदित मदें हैं जबकि आन्तरिक एवं बाह्य सुरक्षा पर किया जाने वाला व्यय निःसन्देह राजकीय व्यय का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। किन्तु यह मानना अनुचित न होगा कि राजकीय आय–व्यय की ये मदे पूर्ण न होकर केवल उदाहरण मात्र है। **इससे यहीं निष्कर्ष निकलता है कि मौर्यकाल में वित्तीय सिद्धान्त को बातों कर विज्ञान पर आधारित करने का प्रयत्न किया गया था।**

कौटिल्य ने राजा के लिए वार्ता का अध्ययन करना अनिवार्य माना है।[3] इस काल में वार्ता को अर्थव्यवस्था का आधार माना जाता था। या दूसरे शब्दों में यह राजकोष का मूल था। राजा वार्ता के ज्ञान के बिना अपने राजकोष को समृद्ध नहीं बना सकता था। वार्ता के माध्यम से ही राजा अपने कर्त्तव्यों यथा – सुरक्षा, न्याय, जीवन की निरन्तरता तथा सभी वर्गों के लिए जीवनयापन के साधन उपलब्ध कराना आदि को पूरा कर सकता था। इस प्रकार वहीं राजा जो वार्ता के तकनीकी ज्ञान की अच्छी जानकारी रखता था, वहीं राजकोष, लोगों, सेना तथा शत्रुओं पर अपना नियन्त्रण रखने में सफल हुआ होगा। साथ ही वह सुदृढ़ राजकोषीय नीति, जो कि राजकोष को समृद्ध करने में सहायक होती है, को बनाने में सफल हुआ होगा।

राजकोष की स्थिति एवं महत्त्व

किसी भी राज्य की समृद्धि और स्थायित्व उसके राजकोष पर निर्भर करती है। इसलिए मौर्यकाल में कोष की स्थिति पर विशेष ध्यान रखा जाता था और विविध करों से इसकी अभिवृद्धि करने के प्रयास किये जाते थे। इस विषय में शासकों की सूझबूझ तथा राज्य की परिस्थितियों पर बहुत कुछ निर्भर करता था।

मौर्यकाल में राजकोष की स्थिति सुदृढ़ थी, क्योंकि नंदो के विशाल कोष को चन्द्रगुप्त मौर्य ने हस्तगत किया था और कोष के बल पर ही शक्तिशाली सेना का संगठन कर वह अपने साम्राज्य का विस्तार करने में सफल हुआ था। कोष के बल पर ही अशोक कलिंग युद्ध को जीत सका था। कोष के महत्त्व से अवगत होने के कारण ही उसने महात्मा बुद्ध के जन्म स्थान लुम्बिनी गाँव को पूर्णतः करमुक्त[4] नहीं किया था। कोष की अभिवृद्धि के प्रति अशोक की इतनी जागरुकता का परिणाम था कि केवल पाटलीपुत्र के ही चारों द्वारों से प्रतिदिन चार लाख कार्षापणें की आय प्राप्त होती थी।[5] बाद में कोष की स्थिति में शिथिलता आने के कारण मौर्यकाल का शासन ह्रासोन्मुख होता चला गया।

कौटिल्य कोष के महत्त्व को भली–भाँति जानता था, इसलिए उसने राज्य के **'सप्तांग सिद्धान्त'** का प्रतिपादन किया, जिससे राज्य का राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक विकास सम्भव हो सके।[6] कौटिल्य ने इस सात महत्त्वपूर्ण अंगो यथा – राजा (स्वामी) अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, सेना एवं मित्र में कोष को पाँचवे स्थान पर रखा। इस आधार पर कहा जा सकता है कि मौर्य शासकों ने राज्य के लिए सुदृढ़ कोष बनाने पर बल दिया। कौटिल्य आगे कहता हे कि राजा को कोष की अभिवृद्धि के लिए सतत् प्रयत्नशील रहना चाहिए। कोष की वृद्धि होने की दशा में कर्मचारियों को पुरस्कृत भी किया जाना चाहिए तथा इसके विपरीत होने की स्थिति में दण्डित भी किया जाना चाहिए। राजा को आय और व्यय दोनों मदों के विवरणों को स्वयं देखना चाहिए और व्ययोपरक्त भी कोष की स्थिति सुदृढ़ बनी रहे, इस ओर राजा को विशेष ध्यान रखना चाहिए।[7] क्योंकि राजा के सभी कार्य कोष पर निर्भर होते हैं।[8] अतः इसके महत्त्व को दर्शाते हुए कौटिल्य

का कहना है कि राज्य में शक्तिशाली सेना का होना ही कोष की संवृद्धि पर निर्भर करता है तथा कोष और सेना के सुदृढ़ होने पर इस पृथ्वी तक को जीता जा सकता है।[9] अतएव कोष का अत्यधिक महत्त्व है। कोष के अभाव में सेना पराई हो जाती है या अपने स्वामी का नही नाश कर देती है। कोष ही धर्म का और काम का हेतु है।[10] राज्य में उत्तम कोष वही है, जिसमें पूर्ववत्तियों का अथवा अपने प्रयत्नों द्वारा धर्मपूर्वक प्राप्त धन राशि संचित हो और जो चिरकाल तक बनी रहने वाली विपत्तियों और दुर्भिक्ष आदि तथा आय के अभाव को सहने में समर्थ हो।[11] मौर्यकाल में कोष एवं कोष्ठागार राज्य की अर्थव्यवस्था के स्तम्भ गिने जाते थे। इसीलिए कौटिल्य ने कोष को राज्य की प्रकृतियों में स्थान दिया था।[12] उन्होंने कोष का विस्तृत एवं क्रमबद्ध वर्णन प्रस्तुत किया है तथा इसके संचालन हेतु कर्मचारियों की व्यवस्था आदि पर भी प्रकाश डाला है तथा स्पष्ट निर्देश दिया है कि कोष का संग्रह प्रजा से प्राप्त करों से होना आवश्यक है। उन्होंने इस तथ्य को भी स्वीकार किया कि उसका संचय धर्मपूर्वक किया जाना चाहिए। उसकी मात्रा इतनी अधिक होनी चाहिए कि बाह्य आक्रमण, दुर्भिक्ष और दूसरी विपदाओं के आने जाने पर भी चाहे ये कितने ही लम्बे समय तक क्यों न चले, कोष राज्य की आवश्यकताओं की पूर्ति करता रह सके तथा उसमें कमी न आने पाये। इसीलिए राजा द्वारा कोष की वृद्धि व रक्षा का प्रश्न सर्वोपरि समझा जाता था।

कौटिल्य के अनुसार राजकोष के बिना सैन्य व्यवस्था स्थापित नहीं की जा सकती।[13] इसलिए मौर्यकालीन शासकों ने सुदृढ़ राजकोषीय नीति और समृद्ध खजाने के महत्त्व को उजागर किया। **यू. एन. घोषाल** के अनुसार राजकोष तथा सेना राज्य की शक्ति के आधार है।[14] कोष की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए कौटिल्य कहते हैं कि राज्य के सम्पूर्ण कार्य कोष पर निर्भर करते हैं, इसलिए राजा के लिए उचित है कि सबसे प्रथम वह कोष के विषय में विचार करें अर्थात् कोष की सदा वृद्धि करता रहे, उसका क्षय कदापि न हो इस बात का ध्यान रखे[15], क्योंकि कोष थोडा होने पर राजा फिर नगर और जनपद निवासी पुरुषों को ही सताता है, अर्थात् कोष पूरा करने को उन्हें धनादि लेने के लिए कष्ट पहुँचाता है।[16] कौटिल्य के अनुसार राजकोष ऐसा होना चाहिए, जिससे पूर्वजों की तथा अपनी धर्म की कमाई संचित हो, इस प्रकार धान्य, सुवर्ण, चाँदी नाना प्रकार के बहुमूल्य रत्न तथा हिरण्य से भरा–पूरा हो, जो दुर्भिक्ष एवं आपत्ति से समय सारी प्रजा की रक्षा करे। इन गुणों से युक्त खजाना कोष सम्पन्न कहलाता है।[17]

कोषगृह निर्माण[18]

कोष गृह दो भागों में बनाया जाता था –

1. भूमि के नीचे वाला भाग, भूमि गृह, जिसमें तीन मंजिले (त्रितल) होती थी, और फर्श तथा दीवारें पत्थर की होती थी, उसमें लकड़ी के ढाँचे पर बने कई कमरे होते थे (अनेक विधान सारदारुपन्जर), एक सीढ़ी होती थी, जिसे यंत्र द्वारा खिसकाया जा सकता था (यंत्र युक्त सारदारुपन्जर), एक सीढ़ी होती थी, जिसे यंत्र द्वारा खिसकाया जा सकता था (यंत्र युक्त सोपानम्) दीवारों पर लगी हुई लकड़ी पर देवताओं की मूर्तियाँ खुदी होती थी (देवतापिधानम्) और उसमें केवल एक ही द्वार होता था।
2. **भूमि का ऊपरी भाग** : यह वास्तव में कोषगृह होता था, उक महल अथवा प्रासाद के ढंग का बना होता था, उसके बाहरी तथा भीतरी दरवाजों में सांकले लगी होती थी (उभयतोनिषेंध बहिरन्तश्चार्गल–युक्त) और बहुमूल्य वस्तुएँ रखने के लिए कई पंक्तियो में अनेक पात्र रखे होते थे (भाण्डवाहिनीपरिक्षिप्तम्)।

शासन केन्द्र में कोषगृह के अतिरिक्त सन्निघाता को देश के सीमान्त प्रदेशों में (जनपदान्ते) आपातकाल के लिए महल जैसी हवेलियाँ बनवानी पड़ती थी। इसके निमार्ण के लिए मृत्युदण्ड पाए हुए अपराधियों से काम लिया जाता था (अभित्यक्तै : पुरुषै : वध्यै) जो भवन या निर्माण पूरा होते ही मार दिये जाते थे, ताकि इनकी निर्माण योजना और इनमें निधि संग्रह की योजना गुप्त रहे।

राजकीय आय के साधन

कौटिल्य ने बहुत ही सूक्ष्म दृष्टि से राज्य की आय के साधनों पर विचार किया है उनके अनुसार आय के दो साधन प्रमुख है –

1. आय शरीर[19]

2. आय मुख[20]

(1) आय शरीर – इसके अन्तर्गत कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में राजकीय आय के सात प्रमुख साधनों का उल्लेख किया है वे साधन है – दुर्ग, राष्ट्र, खनि, सेतु, वन, व्रज और वणिकपथ[21] इनका विशद् रूप से विवेचन निम्नलिखित है –

(अ) दुर्ग – चारों ओर खाई और दीवार होने के कारण प्राचीन भारत के नगर या पुर 'दुर्ग' यहाँ पारिभाषिक शब्द है, जिसका आशय नगरों अथवा पुरों से होने वाली आय से हैं। इस प्रकार की आय निम्न साधनों से प्राप्त होती थी –

(1) शुल्क (चुँगी नाका) – यह तीन प्रकार का था[22]

(क) अभ्यान्तर – दुर्ग या राजधानी के अन्तर्गत उत्पादित वस्तुओं पर शुल्क

(ख) बाह्य – राजधानी के बाहर अपने देश के अन्तर्गत उत्पादित वस्तुओं पर शुल्क

(ग) आतिथ्य – विदेशों से आने वाले माल पर शुल्क।

बिक्री के माल अर्थात् पण्य को पुर के अन्दर लाने व बाहर ले जाने पर भी शुल्क था। यह दो प्रकार का था –

(i) **निष्क्राम्य** – बाहर ले जाने वाले माल पर शुल्क
(ii) **प्रवेश्य** – पुर के भीतर लाए जाने वाले माल पर शुल्क

अर्थशास्त्र में यह भी उल्लेख मिलता है कि किस वस्तु पर कितना शुल्क ग्राह्य है और शुल्काधिकारी के लिए यह भी निर्देश हैं कि वह माल के मूल्य का सही–सही अनुमान करके ही शुल्क प्राप्त करें।

(2) दण्ड (जुर्माना) – प्रजाजनों द्वारा अपराध होने की स्थिति में राज्य उनसे दण्ड वसूल करता था। इस प्रकार जुर्माना भी राजकीय आय के स्त्रोत थे। इस मद में साधारण आय होती थी। दण्ड निर्धारण में जहाँ अपराध की रूपता पर ध्यान दिया जाता था, वही साथ ही साथ अपराधी की आयु, सामाजिक स्तर, मानसिक स्थिति, जाति और संस्कृति का भी यथेष्ट विचार किया जाता था।[23]

(3) पौतव – दुकानदार और व्यापारी लोग जिन तौल और माल के साधनों या मानों का प्रयोग करते थे, उन्हें प्रमाणित करने के लिए, और समय–समय पर उनका परिशोधन करने के लिए, राज्य द्वारा जो मूल्य या कर वसूल किया जाता था, उसे पौतव कहते थे। खराब बाँटों का प्रयोग करने वाले को दण्ड देने की व्यवस्था थी।[24]

(4) नागरक – नगर का मुख्याधिकारी 'नागरक' कहलाता था। पुरवासियों को सामाजिक नियमों का पालन करना होता था। नगर में सफाई एवं स्वास्थ्य सम्बन्धी नियमों को भंग करने, जुआ खेलने, फौजदारी करने जैसे अपराधों के लिए नागरक द्वारा दण्ड दिये जाने की व्यवस्था थी। इन दण्ड़ों से प्राप्त होने वाली आय को नागरक कहा जाता था। यह आय नगर प्रबन्ध–कार्य में प्रयुक्त होती थी।[25]

(5) लक्षणाध्यक्ष द्वारा होने वाली आय – टकसाल के अधिकारी को लक्षणाध्यक्ष कहा जाता था। सिक्कों का संचालन राज्य की ओर से होता था। लेकिन साधारण लोग भी अपने सिक्के ढलवा सकते थे, परन्तु इसके लिए लक्षणाध्यक्ष को निर्धारित शुल्क देना होता था। इससे भी राज्य को आय होती थी।

(6) मुद्राध्यक्ष द्वारा राज्य को आय – नगर में प्रवेश चाहने वाले यात्री को और समुद्रमार्ग से विदेश जाने वाले यात्री को मुद्राध्यक्ष से मुद्रा सरकारी पास प्राप्त करनी होती थी। इससे भी राज्य को आय होती थी। मुद्रा न होने या जाली मुद्रा होने की स्थिति में यात्री को दण्डित किये जाने की भी व्यवस्था थी।[26]

(7) सुरा – शराब का व्यवसाय भी राज्य के अधीन था। शराब की दुकानें या तो राज्य द्वारा संचालित होती थी, या फिर ठेके पर उठा दी जाती थी। अनज्ञापित व्यक्ति को शराब बनाने पर दण्ड दिये जाने की व्यवस्था थी। इस प्रकार शराब के व्यवसाय से भी राज्य को आय प्राप्त होती थी।[27] लेकिन नैतिकता की दृष्टि से मद्य के उपयोग को सीमित करने की प्रवृत्ति अर्थशास्त्र में दृष्टिगत होने लगती है।

(8) सूना – बूचड़खानों से प्राप्त आय को सूना कहा जाता था। मांस की बिक्री पर शुल्क लिया जाता था। निषिद्ध स्थानों में शिकार कर अवध्य पशु–पक्षियों को मारने के अपराध के उपलक्ष में प्राप्त किये जाने वाला दण्ड भी इसी आय का अंग होता था।

(9) सूत्र – राज्य की ओर से शिल्पियों, कैदियों तथा असहाय व्यक्तियों से सूत कातने और वस्त्र बुनने आदि के जो काम कराये जाते थे, उससे प्राप्त आय को सूत्र कहा जाता था।

(10) तेल – राज्य को तेल के व्यवसाय से होने वाली आय इसमें सम्मिलित होती थी।

(11) घृत – घी के व्यवसाय से प्राप्त होने वाली आय को घृत कहा जाता था।

(12) क्षार – नमक का व्यवसाय राज्य के अधीन था। इससे होने वाली आय को क्षार कहा जाता था।

(13) सौवर्णिक द्वारा होने वाली आय – सोना, चाँदी आदि के आभूषण व पात्र आदि बनाने वाले शिल्पियों से राज्य को कर प्राप्त होता था।

(14) पण्य संस्था – पण्य संस्थाओं से आशय राजकीय दुकानों से है, जहाँ पण्याध्यक्षों द्वारा वह माल बेचा जाता था, जो विक्रय हेतु कोष्ठा गाराध्यक्षों, खन्यध्यक्षों द्वारा बनाया जाता था। राज्य को ऐसे व्यापार से होने वाली आय 'पण्य संस्था' मद के अन्तर्गत गिनी जाती थी।

(15) वेश्या – स्वतन्त्र पेशा करने वाली वेश्याओं से कर वसूल किया जाता था और राजकीय सेवा में नियुक्त वेश्याओं से भी आय प्राप्त होती थी। इसका प्रतिरूप रोमन साम्राज्य की राजस्व व्यवस्था में दृष्टिगत होता है।

(16) द्यूत – जुआ घरों से भी राज्य को आय प्राप्त होती थी। जीतने वाले को 5 प्रतिशत द्यूताध्यक्ष को देना होता था और खेलने वाले को स्थान का किराया आदि भी प्रदान करना होता था।[28]

(17) वास्तुक – राज्य अचल सम्पत्ति की बिक्री पर कर वसूल करता था, जिसे वास्तुक कहा जाता था।[29]

(18) कारूशिल्पीगण – इसके अन्तर्गत कारीगरों एवं शिल्पियों की श्रेणियों से प्राप्त होने वाली आय आती थी।

(19) देवताध्यक्ष – मन्दिरों से प्राप्त होने वाली आय इसके अन्तर्गत आती थी।

(20) द्वार – यह नगर के प्रधान द्वार में प्रवेश के समय वसूल किया जाने वाला कर था अथवा सामान के प्रधान द्वार से बाहर ले जाने की स्थिति में प्राप्त चुँगी थी।

(21) बाहिरिका देय – नह, नतर्क, धूर्त आदि लोगो (जो नगर के बाहर बसते थे)[30] से लिया जाने वाला विशेष कर इस मद की आय में माना जाता था।[31]

(ब) राष्ट्र – इस मद के अन्तर्गत आय से आशय उस विविध प्रकार की आय से है जो राज्य को जनपद क्षेत्र से प्राप्त होती थी।[32] ये निम्न प्रकार हैं –

(1) सीता – राजकीय कृषि क्षेत्र से होने वाली उपज के करों को सीता कहते थे, जिसे सीताध्यक्ष वसूलता था।

(2) भाग – व्यक्तिगत कृषि क्षेत्रों से वसूला जाने वाला कर जिसका संग्राहक भागदूध होता था, को भाग कहते थे। सामान्यतः यह, उपज का छठा भाग होता था, परन्तु सिंचाई की सुविधानुसार पाँचवाँ, चौथा या तिहाइ भाग भी हो सकता था।[33]

(3) बलि – कौटिल्य ने इसका कोई विवरण नहीं दिया है, सम्भवतः लोगों द्वारा राज्य को स्वेच्छा से दिये जाने वाले सहयोग को अथवा देवमन्दिरों और तीर्थस्थलों से होने वाली आय को बलि कहते थे।

(4) कर – सामन्तों द्वारा दिया जाने वाला भाग कर कहलाता था। प्रत्येक सामन्त को अपने राज्य को वार्षिक कर देना पड़ता था।

(5) वणिक् – जनपद क्षेत्र के वणिकों से पण्यपदार्थों के क्रय–विक्रय पर राज्य को प्राप्त होने वाले कर को वणिक् कहा जाता था।

(6) नदिपाल स्तर – नदियों पर बने हुए पुलों पर से पार उतारने पर लिया जाने वाला कर।

(7) नाव – नौका द्वारा नदी पार करने कही स्थिति में लिया जाने वाला कर।

(8) पत्तर्न – राज्य में विद्यमान विविध पत्तनों (कस्बों) से प्राप्त किया जाने वाला कर।

(9) विवीतम् – सरकारी चरागाहों का उपयोग करने के बदले पशुओं के मालिकों से लिया जाने वाला कर। अर्थशास्त्र में इसकी दर उल्लिखित है।[34]

(10) वर्तनी – मार्गों पर रक्षा प्रदान करने के बदले प्राप्त किया जाने वाला कर। अर्थशास्त्र में इसकी दरों का उल्लेख मिलता है।[35]

(11) रज्जू (राजुक) – राजुक नामक भूमि–निरीक्षक राजकर्मचारियों द्वारा भूमि मापने से प्राप्त कर।[36]

(12) चोर–रज्जू – चोर को पकड़ने के लिए लोगों से प्राप्त होने वाली राजकीय आय।[37]

(स) खानि – मौर्यकाल में स्थानीय तथा सामुद्रिक दोनों प्रकार की खानों पर राज्य का एकाधिकार था। इससे होने वाले सोना, चाँदी, हीरा, मणि, मुक्ता, शंख, लोहा, नमक तथा अनेक प्रकार के कीमती पत्थरो से राज्य को बहुत आय होती थी।[38]

(द) सेतु – पुष्पों और फूलों के उद्यान, सब्जी के खेतों से और मूलों (मूली, शलगम, कन्द आदि) के खेतों से जो आय होती थी, उसे सेतु कहते थे।[39]

(य) वन – वनों पर इस काल में राज्य का एकाधिकार था। इनमें राज्य को अनेक प्रकार की आय होती थी।[40]

(र) व्रज – पालतू–पशुओं (गाय, भैंस, बकरी, घोड़े व खच्चर आदि) से प्राप्त होने वाली आय को व्रज कहते थे।[41]

(ल) वणिकपथ – मार्गों का उपयोग करने वाले वणिकों से होने वाली आय वणिकपथ कहलाती थी। वणिक पथ दो प्रकार के होते थे – स्थल पथ और जल पथ, इसलिए इस प्रकार की आय के दो भेद जलपथ आय तथा स्थल पथ आय होते थे।[42]

(2) आय मुख – कौटिल्य ने सात शीर्षों में आय स्त्रोतों (आय मुख) की अपेक्षाकृत संक्षिप्त सूची दी है, वह सूची इस प्रकार है।[43]

(1) मूल – राज्य द्वारा चलाये गये उद्योगों के उत्पादनों की बिक्री से प्राप्त आय।

(2) भाग – व्यापारियों द्वारा संचालित व्यापार से प्राप्त निर्धारित अंश भाग कहलाता था।

(3) **व्याजी** – राज्य जिन सामानो को खरीदता था, उसकी मात्रा, कीमत के हिसाब से सामान्य लोगों की अपेक्षा कुछ अधिक होती थी। इस लाभाँश को व्याजी कहते थे।

(4) **परिध** – यह एक प्रकार का विशिष्ट कर था।

(5) **क्लिप्त** – नदी – तट, समुद्रा तट झीलों के किनारे बसे ग्रामवासियों से लिया जाने वाला कर।

(6) **रूपिक** – इसका सम्बन्ध प्रजा द्वारा राजकोष में संचय की जाने वाली धनराशि से था। इसके हेतु प्रजा को कुछ शुल्क देना पड़ता था।

(7) **अत्यय** – राज्य द्वारा निर्धारित स्थानों के अतिरिक्त अन्य साधनों से सामान खरीदने वाले को यह अर्थ दण्ड देना पड़ता था।

1. भू–राजस्व एवं भूमि से प्राप्त होने वाली आय

मौर्यकाल में भू–राजस्व राज्य की आय का सबसे महत्त्वपूर्ण स्त्रोत था। साहित्य में इसे भाग, बलि, कर, प्रतिकर, विशिष्टि, प्रतिभाग, हिरण्य, रज्जू विवात, सेनाभक्त, पार्श्व आदि अनेक शब्दों से सम्बोधित किया गया है। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में ग्रमीण क्षेत्रों (राष्ट्र) से प्राप्त होने वाली आय के शीर्षकों के अन्तर्गत निम्नलिखित मदों का उल्लेख किया है –

(1) **सीता** – राजकीय भूमि से प्राप्त होने वाली आय, जो सीताध्यक्ष द्वारा एकत्रित की जाती थी, सीता कहा जाता था।[44] सीताध्यक्ष कृषि विद्या और वनस्पति चिकित्सा में प्रवीण होता था।[45] इसके प्रमुख कार्य निम्नलिखित थे –

1. विभिन्न फसलों के बीजों को यथा–समय प्राप्त करके रखना[46]
2. भूमि पर बार–बार हल चलवाकर दासों, मजदूरों और दण्डित कैदियों से बीज बुआना[47]
3. खेती के लिए आवश्यक हल आदि उपकरणों और बैलों की पर्याप्त व्यवस्था करना[48]
4. कृषि के विभिन्न कार्यों के लिए बढ़ई, लुहार, रस्सीवर्तक आदि कारीगरों की सेवाऐं उपलब्ध कर सकने की व्यवस्था रखना[49]
5. भूमि पर तीन फसलों की पैदावार करवाना –
   (i) हैमन अर्थात् रबी
   (ii) ग्रैषिक अर्थात् खरीफ
   (iii) केदार अर्थात् जायद[50]
6. तैयार फसल को कटवाकर संचित कराना तथा यह ध्यान रखना कि लेश मात्र भी हानि न होने पाये, यहाँ तक कि खेत में भूसे के तिनके तक को न छोडना[51]
7. यह व्यवस्था करना कि खेतों में पड़ी उपज को आग न लग पाये[52]
8. अपने ज्ञान से वर्षा का अनुमान लगा कर बीज–वपन कराना, तथा अन्य साधनों से भी सिंचाई की व्यवस्था कराना[53]
9. विभिन्न फसलों के लिए उपयुक्त भूमि का चयन तथा खाद का प्रबन्ध करना
10. खेतों में कार्य करने वाले दासों, ग्वालों तथा मजदूरों को उनके कर्मानुरूप भोजन और वेतन प्रदान करना।[54]

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि कृषि कार्य में राज्य स्वयं संलग्न था और कम लागत पर अधिक से अधिक आय अर्जित करने के लिए संचेष्ट था। किन्तु राज्य के पास तो इतना विशाल भू–भाग था कि उस सारे को वह स्वयं कृषि योग्य बना ले, यह सम्भव न था। अतः भूमि को किराये पर देकर मजदूर किसानों द्वारा भी वह कृषि कार्य कराता था। ये मजदूर राज्य को अपना श्रम देते थे और बदले में सरकारी खेतों की उपज का एक चौथाई या 1/5 अंश प्राप्त करते थे।[55]

श्रम के साथ अन्य उपकरण आदि का योगदान होने पर दर में परिवर्तन था।[56] परन्तु जो मजदूर राज्य की जमीन पर खेती करते थे तथा अपने बीजों और बैलों का प्रयोग करते थे, वे बदले में उपज का आधा भाग प्राप्त करते थे।[57] बाद की स्मृतियों और बौद्ध साहित्य से भी इस दर की पुष्टि होती है।[58] स्पष्ट है कि राज्य मजदूरों द्वारा खेती करवाता था। वह ऐसे मजदूरों को ही खेती करने के लिए भूमि देता था जो खेती करने में निपूण होते थे, और इस बात का ध्यान रखा जाता था कि अकुशल मजदूरों को भूमि देने से राजकीय कोष में किसी प्रकार की हानि न हो पाये।[59] खेती में काम करने वाले ऐसे मजदूर स्ववीर्यॉपजीवी कहलाते थे। सरकारी खेतों में काम करने पर इन्हें अपने श्रम के द्वारा उत्पादित उपज का 1/4 या 1/5 अंश मिलता था।[60] और निजी भूमियों पर काम करने पर मजदूरी के रूप में उन्हें उपज का 1/10 भाग प्राप्त होता था।[61] **मेगस्थनीज** के कथन से भी इस बात की पुष्टि होती है कि राजकोष खेतों में कृषि कार्य करने वाले काश्तकार पारिश्रमिक के रूप में उपज का चतुर्यांश राजा से प्राप्त करते थे। सरकारी खेतों में काम करने से मजदूरों को अधिक मजदूरी मिलती थी, इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि राजकीय भूमि से राज्य को अच्छी आय होती थी।

(2) भाग – मौर्यकाल में लोगों की निजी भूमि से होने वाली आय को भाग कहा जाता था। मौर्यकाल में राज्य के कल्याणकारी कार्यों के अधिक बढ़ जाने के कारण राजकीय आय की वृद्धि की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए ही कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में यह प्रतिपादित किया है कि आश्रय मं रहने वाले तपस्वियों को भी भूमि उपज का षष्ठांश राजा को देय है।[62] षष्ठांश की यह दर कोई अटल नहीं थी। उपज की मात्रा, भूमि के प्रकार और सिंचाई के साधनों को ध्यान में रखकर भूमिकर की दर में परिवर्तन किए जाते थे।[63] अर्थशास्त्र के भाष्यकार भट्टस्वामी का यह विचार है कि षड्भाग शब्द अपने में अन्य दरों को अलग–दर से घटाने का उदाहरण द्रष्टव्य है। अशोक ने रूम्निनदेई स्तम्भ शिलाकेन्द्र में अष्टभागीय शब्द का उल्लेख यही बताता है कि गौतम बुद्ध की जन्मभूमि लुम्बिनी ग्राम में महात्मा बुद्ध के प्रति भक्तिभाव प्रकट करने के उद्देश्य से भूमिकर की यह दर 1/6 से घटाकर 1/8 कर दी गई। ऐसे ही भूमिकर की दर को बढ़ाए जाने के उल्लेख भी मौजूद हैं। कौटिल्य आर्थिक कष्टप्रद स्थितियों में उपज का एक–तिहाई अथवा एक चौथाई तक भाग को भी वसूल करने की संस्तुति

करता है। साथ में यह भी उल्लेख है कि उपजाऊ भूमि से धान का 1/3 या 1/4 भाग कर के रूप में राजा प्राप्त कर सकता है।[64] इन उल्लेखों से यह भी स्पष्ट होता है कि भूमिकर की इतनी उच्च दरें उपज की दृष्टि से घटिया प्रकार की भूमियों पर लागू नहीं होती थी। मनुस्मृति में भी 1/6, 1/8 तथा 1/12 उपज का भाग, कर के रूप में देने की बात कही है।[65] तथा साथ में यह भी उल्लेख है कि विपत्तिकाल में यह दर बढ़ाकर 1/4 भी की जा सकती है।[66] रामायण में भी यह चौथाई कराधान का उल्लेख है।[67] महाभारत में घटती दर के रूप में दसवे हिस्से की बात भी कही गई है।[68]

यद्यपि षष्ठांश की दर सिद्धान्ततः स्वीकृत दर प्रतीत होती है। फिर भी मेगस्थनीज के वृतान्त से संकेत मिलता है कि कौटिल्य के आदेश के बावजूद मौर्यकालीन भूमिकर की दर काफी अधिक थी। घोषाल ने डोयोडोरस के द्वारा उद्धत मेगस्थनीज के कथन का यह अर्थ लगाया है कि खेतिहर साधारणतः उपज का चतुर्थांश मौर्यं राज्य को प्रदान करते थे।[68अ] दूसरे शब्दों में यूनानी राजदूत के इस प्रमाण का यह अर्थ हो सकता है कि उसके काल में भू–राजस्व की सामान्य दर उस दर के बराबर थी, जिसे भारतीय विधि निर्माताओं ने राज्य के संकटकाल के लिए विहित किया था।

उपर्युक्त विवरणों से स्पष्ट है कि स्ववीयौपजीवि अर्थात् अपने श्रम से स्वतन्त्र रूप से खेती करने वाले किसानों के लिए भूमि कर की सामान्य दर 1/6 थी, लेकिन जमीन की उपज शक्ति और सिंचाई के साधनों को ध्यान में रखते हुए इसमें परिवर्तन था। सिंचाई की किसानों द्वारा स्वयं व्यवस्था किये जाने पर उत्कृष्ट भूमि पर यह दर 1/5 थी।[69] रहट, चरस आदि द्वारा पानी खींचकर सिंचाई करने की स्थिति में यह दर 1/3 कही गई है, और नदी, नहर तालाब आदि से सिंचाई करने की दशा में यह दर उपज का 1/4 भाग निर्धारित थी।[70]

कल्याणकारी कार्यों मं जनता को प्रवृत्त करने के लिए भूमिकर से छूट के प्रलोभन का वर्णन मिलता है। यदि कोई किसान नया तालाब या बांध बनाकर था तो उसे पांच साल के लिए भूमिकर से मुक्त कर दिया जाता था। टूटे हुए तालाबों या बांध की मरम्मत करने की स्थिति में इस चार वर्ष के लिए भूमिकर नहीं देना होता था।[71]

राज्य मे ंउपज की मात्रा कम न रहे और राजकीय आय में हानि न हो, इन हेतुओं वंश और भूमि पर अपने अविकाल स्वत्व के अधिकार का प्रयोग करते हुए राज्य, भूमि पर खेती न कर पा सकने वाले किसानों से भूमि छिनकर उन व्यक्तियों को वह भूमि दे देता था जो उस पर स्वयं खेती करें।[72] अधिक उपज के लिए किसान आवश्यक साधनों को प्राप्त कर सकें, इस हेतु राज्य द्वारा किसानों को ऋण देने की भी व्यवस्था थी।[73] ऋत्विक्, आचार्य, पुरोहित, क्षत्रिय, विशेष राज–कर्मचारी आदि योग्य व्यक्तियों के प्रति श्रद्धा और भक्तिभाव से प्रेरित हो, और इस भावना से कि ऐसे व्यक्तियों को जीवन–निर्वाह करने में कोई कठिनाई न हो, राज्य अपनी राजकीय भूमि से कुछ भूमि ऐसे लोगों को प्रदान कर देता था और यहाँ तक कि राज्य उनसे भूमि कर भी वसूल नहीं करता था।[74]

(3) बलि

बलि किस प्रकार का 'कर' था, इस विषय में विद्वानों का मन्तव्य नहीं है। **डॉ. शामशास्त्री**[75], **स्मिथ**[76] और **थामस**[77] बलि को धार्मिक कर मानते हैं। **मेयर**[78] बलि को प्रजाजनों द्वारा स्वेच्छा से दिया गया दान मानते हैं, जबकि **गणपतिशास्त्री**[79] इसे माँग कर प्राप्त किया धन समझते हैं।[80] लेकिन इन दोनों विद्वानों द्वारा की गई व्याख्याएँ अर्थशास्त्र के उल्लेखों से सामंजस्य नहीं रखती है। अर्थशास्त्र में तो इसके विपरीत यह उल्लेख है कि वित्त विभाग से अधिकृत प्रदेष्टाओं द्वारा बलि एकत्रित की जाती थी।[81] इस पर भाष्य करते हुए **भटट् स्वामी** का मन्तव्य है कि अधिकारियों द्वारा यह बलपूर्वक वसूल किया जाता था।

अर्थशास्त्र में भाग, बलि और कर का अलग–अलग उल्लेख स्पष्ट रूप से यह बतलाता है कि बलि और भाग दो भिन्न प्रकार की कर व्यवस्थाएं थी। भाग तो उपज का एक साधारण कर था, जबकि बलि उपज के साधारण कर के अतिरिक्त एक अपरिभाषित उपकर था जिसके अन्दर लोगों द्वारा स्वेच्छा से दिये गये धार्मिक चन्दे भी सम्मिलित रहे होंगे।[82]

(4) कर

मार्यकाल में कर आय का एक प्रसिद्ध साधन था। अर्थशास्त्र से अनेक बार 'कर' शब्द का उल्लेख आया है, और विद्वानों ने इसके अर्थ भिन्न–भिन्न किये हैं। डॉ. शामशास्त्री एक स्थान[83] पर इसे धन में अदा की गई अनिवार्य राशि के रूप में लेते हैं तथा दूसरे स्थान[84] पर सामन्तों के द्वारा बड़े राजाओं को दिये जाने वाले उपहारों के रूप में भी इसका आशय समझते हैं।

गणपति शास्त्री कर को फल और वृक्षों से प्राप्त आय के रूप में लेते हैं।[85] 'अर्थशास्त्र' में अन्यत्र इस शब्द के उल्लेख से व्यापारियों, शिल्पियों आदि पर लगाये गये आपातकालीन कर के रूप में इसका अर्थ प्रतीत होता है।[86]

'अर्थशास्त्र' में इस शब्द के अन्य अनेक उल्लेख इसे साधारण कर के रूप में दिखाते हैं।[87] अर्थशास्त्र के भाष्यकर्त्ता भट्ट स्वामी के अनुसार यह वार्षिक वसूली थी, जो अप्रैल व मई के महीनों में राज्य को दे दी जाती थी।[88] जबकि क्षीर स्वामी द्वारा उद्धत अर्थशास्त्र के एक अवतरण के अनुसार यह सभी चल अथवा अचल वस्तुओं पर लगाया जाने वाला भार था।

अर्थशास्त्र तथा स्मृति ग्रन्थों में बलि कर और शूल्क इन शब्दों का अलग–अलग प्रयोग हमें यह बताता है कि निश्चित ही ये सभी आय के अलग–अलग स्त्रोत थे। कहीं कर शब्द का प्रयोग व्यापारी के लाभ पर कराधान है।[89] तो कहीं राष्ट्र से होने वाली आय का साधन।[90] यू.एन.घोषाल के अनुसार कर एक साधारण सम्पत्ति कर था, जो समय–समय पर वसूल किया जाता था।[91]

उपर्युक्त विवरण से यही स्पष्ट होता है कि कर का एक निश्चित अर्थ लेना कठिन है, लेकिन इससे यह भी प्रतीत होता है कि कर भाग के अतिरिक्त एक प्रकार का जनता पर एक विशेष समय के लिए लगाया गया, जनता के द्वारा प्रदेय धन था। इससे उपज का वह भाग अभिप्रेत था जो राजा को जाता था और यह वस्तु रूप से एकत्रित किया जाता था।

(5) प्रतिकर – अर्थशास्त्र में प्रतिकर शब्द का भी उल्लेख है।[92] इससे भी अभिप्रायः उस प्रदेह से है जो समाहर्ता ग्रामीण क्षेत्रों (राष्ट्र) से वसूल करता था। यह भी भाग के अतिरिक्त होता था, जो करों के बदले ग्रामवासियों द्वारा अलग–अलग तथा सामूहिक रूप में अनाज, पशु, नकद, बेगार क्षतिपूर्ति के रूप में दिये जाते थे।

(6) पिण्डकर – अर्थशास्त्र में पिण्डकर शब्द का उल्लेख मिलता है। भट्ट स्वामी ने इसे सम्पूर्ण ग्रामों पर लगाए गये वार्षिक करों के रूप में परिभाषित किया है, जो वस्तु रूप में एकत्रित किया जाता था।[93] गणपति शास्त्री[94] और जोली[95] भी इस आशय की पुष्टि करते हैं

(7) विष्टि – विष्टि से अभिप्राय लोगों की उस श्रम शक्ति से हैं, जिसे राज्य अपने कार्यों को पूर्ण करने में निःशुल्क इस्तेमाल करता था। मौर्यकाल में विष्टि भी आय का एक साधन था।[96] अर्थशास्त्र में विष्टि का उल्लेख मिलता है। अर्थशास्त्र में विष्टि का उल्लेख मिलता है। अर्थशास्त्र के भाष्यकर्त्ता भट्ट स्वामी ने अपना ऐसा मत भी व्यक्त किया है कि उन ग्रामीणों से, जो लगाए गए कर को प्रदान करने में असफल रहते थे, उनके कर के बदले में विष्टि प्राप्त की जाती थी।[97] राजकीय अधिकारी 'विष्टि' शब्द का जुड़कर उल्लिखित किया जाना भी इस ओर संकेत करता है कि इन करों के बदले में विष्टि के माध्यम से श्रम प्राप्ति करके कर वसूली की जाती थी।[98]

राज्य द्वारा विष्टि से प्राप्त होने वाले श्रम को राजकीय कार्यशालाओं, प्रतिष्ठानों व भण्डारगृहों में विभिन्न कार्यों के लिए लगाया जाता थ। सफाई करने, वस्तुओं को तोलने व वस्तुओं को इधर–उधर लाने–ले जाने आदि विभिन्न कार्यों में लोगों से विष्टिलाभ लिया जाता था।[99]

विष्टि के अन्तर्गत लोगों के द्वारा अस्त्र–शास्त्र पहुँचाने का कार्य कराया जाता था, तथा भोजन सामग्री को निर्दिष्ट स्थानों पर पहुँचाया जाता था।[100] ऐसे ही अन्य कार्य भी जैसे शत्रुओं से लड़ने का कार्य[101], राजकीय भू–खण्ड़ों को जोतने का कार्य, मार्गों के निर्माण का कार्य तथा सिंचाई आदि अनेक कार्य, विष्टि के अन्तर्गत कराये जाते थे।[102] विष्टि प्राप्त करने में इस बात का ध्यान रखा जाता था कि कृषि को किसी प्रकार की हानि न होने पाये।[103] अर्थशास्त्र में कृषकों से अत्याचारपूर्ण बेगार लेने का निषेध किया गया है। इस प्रकार मौर्यकाल में विष्टि एक मान्य व्यवस्था थी। यह नितान्त राज्य द्वारा लगाई जाती थी और प्रायः उन लोगों से प्राप्त की जाती थी जो अपने कर भार को धन–रूप में अथवा वस्तु–रूप में प्रदान करने की स्थिति में नहीं होते थे।

(8) हिरण्य – हिरण्य एक प्रकार का ठिकानों पर लगाया गया करभार था।[104] **डॉ. घोषाल** के अनुसार हिरण्य एक प्रकार का ऐसा कर था, जो विशेष–प्रकार की फसलों पर लगाया जाता था और जो वस्तु रूप में, न होकर धन रूप में वसूला जाता था।[105] **डॉ. बोस** इस प्रकार की व्याख्या से इसलिए सहमत नहीं है कि एक फसल पर षष्ठांश ग्रहण हो और दूसरे प्रकार की फसल पर पचासवाँ हिस्सा[106], लेकिन वे स्वयं इस प्रकार की प्रकृति पर कोई प्रकाश नहीं डालते। महाभारत में लोगों द्वारा प्रदेय[107] कर के अर्थ में 'धान्य' 'हिरण्य' शब्द भी उपलब्ध होते हैं।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर कहा जा सकता है कि हिरण्य भी भूमि पर लगाया गया एक प्रकार का ऐसा कर था, जिसको धन में वसूला जाता था, और इसकी दर 1/50 निर्धारित थी। किसी भी परिवार या व्यक्ति की कुल फसल का धन में आँकलन करने के उपरान्त ऐसे कर को निश्चित किया जाता था और यह भी भूमि कर से जो षष्ठांश होता था और जिसे अनाज के रूप में वसूला जाता था, से भिन्न था। सम्भवतः यह कुछ फसलों पर अतिरिक्त कर के रूप में वसूल किया जाता था।

(9) प्रतिभाग – प्रतिभाग वह कर भाग था जो ग्रामीणों को राजा अथवा राजकीय अधिकारियों के गाँवों में पधारने पर आदर सत्कार फलफूल भेंट, ठहरने और रहने की व्यवस्था के रूप में करना होता था। इस प्रतिभाग शब्द का उल्लेख मनुस्मृति[108] और महाभारत[109] में हुआ है।

(10) सेनाभक्त – सेनाभक्त भी ग्रामवासियों पर एक प्रकार का कर भार था, अर्थशास्त्र के भाष्ट[110] में भाष्यकर्त्ता **भट्ट स्वामी** ने अपने विवरण में उल्लेखित किया है कि गाँव के पास से जब सेना निकलती थी तो ग्रामवासियों को उनके लिए घी, धान्य आदि खाद्य सामग्री प्रदान करनी होती थी। यह कर भार सामान्य जनता पर यदा कदा लगता था।

(11) रज्जु – अर्थशास्त्र[111] में राजकीय आय के स्त्रोतों में रज्जु का भी एक साधन के रूप में उल्लेख हुआ है। अर्थशास्त्र[112] में रज्जु : विषयपालदेयमित्याहुः उल्लेख से ऐसा प्रतीत होता है कि रज्जु वह कर था जिसे रज्जुक अधिकारियों द्वारा इकट्ठा करके विषयपाल के पास जमा किया जाता था।

रज्जुक राज्य द्वारा नियुक्त अधिकारी होते थे, जिनका कार्य भूमि का सर्वेक्षण तथा माप आदि करना होता था। इस कार्य के बदले में राज्य द्वारा लोगों से कर लिया जाता था, क्योंकि रज्जुकों के माध्यम से यह एकत्रित किया जाता था, अतः इसका नाम 'रज्जु' था।

(12) पशुकर – यह कर लोगों के पशुधन पर लगाया जाता था। इस आय से आशय उस आय से है जो भैंस , भेड़, बकरी, ऊँट, खच्चर, घोड़े, गधे आदि पशुओं को पालने के ऐवज में उनके मालिकों से प्राप्त किया जाता था।

एरियन[113] भी पशुपालकों द्वारा ऐसे कर दिये जाने की बात करता है। महाभारत[114] और मनुस्मृति[115] में भी इस प्रकार का उल्लेख है।

कौटिल्य[116] इस प्रकार के कर को समाहर्ता द्वारा एकत्रित करने का पृथक् रूप से हिसाब–किताब रखने की व्यवस्था देता है।

सामान्य काल में ऐसे कर की दर का कोई प्रतिपादन उपलब्ध नहीं होता, किन्तु आपातकाल, अन्य परिस्थितियों में पशुपालक से पशुकर प्राप्त करने की जिस दर का उल्लेख अर्थशास्त्र[117] में हुआ है, वह यह है – मुर्गे और सूअर पर मूल्य का 1/2, भेड–बकरी आदि छोटे पशुओं पर 1/6 तथा गाय, भैस, गधे, ऊँट आदि पर 1/10 पशुओं के विक्रय करने की स्थिति में भी 1/4 पण प्रति पशुकर के रूप में वसूल किया जाता था।[118] डेरी–फार्मो से भी आय का उल्लेख है।[119] मालिक को डेरी से प्राप्त होने वाली आय का 10 प्रतिशत राज्य को देना पड़ता था।

राज्य बदले में संरक्षण प्रदान करता थ्झा कि कोई उनके पशुओं को चुरा न ले जाये। इन निजी डेरी फार्मों के साथ–साथ राज्य के अपने भी बड़े–बडे ब्रज और 'डेरी फार्म' होते थे, जिनसे राज्य को पर्याप्त आय उपलब्ध हो जाती थी।

स्पष्ट है कि मौर्यकाल में लोगों द्वारा पाले जाने वाले पशुओं पर, ब्रजों तथा 'डेरी–फार्मो' पर कर लगाया जाता था, और इस प्रकार राजकोष की वृद्धि होती थी।

(13) विवीतकर – देश के खतरनाक और भयावह क्षेत्रों में चरागाहों और पशुाधन की सुरक्षा के लिए राज्य की ओर से विशेष अधिकारी विवताध्यक्ष नियुक्त होते थे। वे चोरों से तथा जंगली जानवरों से सुरक्षा प्रदान करते थे।[120]

(14) चोर रज्जु – गाँवों में तथा मार्गों पर सुरक्षा प्रदान करने के लिए राज्य की ओर से सुरक्षा अधिकारी नियुक्त होते थे। उन्हें चोर रज्जुक (अर्थात् पुलिस अधिकारी) कहते थे। इन पर अपने क्षेत्र के सुरक्षा भार का उत्तरदायित्व होता था। इनके क्षेत्रों में यदि लूट–मार हो जाती थी तो उन्हें इस हानि की पूर्ति करनी पड़ती थी।[121]

इन अधिकारियों की सेवा–कार्य के बदले में ग्रामवासियों से कुछ सामान ऋण देय प्राप्त किया जाता था, जिसे रज्जु के नाम से जाना जाता था।

डॉ. शाम शास्त्री[122] ने चोर–रज्जु शब्द का अर्थ 'चारों' को बाँधने के लिए रस्सियों से किया है, लेकिन यह अनुवाद आय के साधन में किसी अर्थ को अभिव्यक्त नहीं करता।

गणपति शास्त्री – ने चोर–रज्जु का अभिप्रायः उसी कर से लिया है, जो ग्रामवासियों को चोरों को पकड़ने के लिए देय होता था।[123]

अर्थशास्त्र के इस विषय में अधिक विवरण उपलब्ध न होने के कारण अधिक विस्तार से नहीं कहा जा सकता। केवल इतना ही ज्ञात होता है कि यह मौर्यकाल में एक प्रकार का पुलिस कर था।

(15) वास्तुक – अर्थशास्त्र में वास्तुक से अभिप्रायः उस आय से लिया गया है, जो राज्य को घर, खेत, बाग, तालाब आदि लोगों की अचल सम्पत्ति से प्राप्त होती थी।[124]

अर्थशास्त्र में घरों की गिनती का उल्लेख सम्भवतः इस बात की ओर ही संकेत करता है कि नगरों में लोगों के निजी घर और आहातों आदि पर कर लगाया जाता था। भूमि और भवनों के बेचने की स्थिति में भी यह वास्तुक कर लगाया जाता था।[125] और निकासी के अवसरों पर नियमित और उचित मात्रा में अधिक मिलने वाला धन राजकोष में जमा होता था।

(16) पार्श्व – अर्थशास्त्र में पार्श्व नामक आय के साधन का भी उल्लेख हुआ है।[126] डॉ. शामशास्त्री[127] का कथन है कि सामान्य करों के भुगतान के उपरान्त यदि लोगों में राज्य को और कर प्रदान करने की गुंजाइश दिखती है, तो राज्य द्वारा यह अधिभार लगाया जाता था। इसे ही पार्श्व कहते थे।

अर्थशास्त्र के भाष्यकर्ता **भट्ट स्वामी** के अनुसार नियमित कर के अतिरिक्त प्राप्त होने वाले कर का यह नाम है।

इस प्रकार ये भूमि पर अतिरिक्त कर, जो राज्य द्वारा अपनी आय बढ़ाने के लिए लगाये जा सकते थे।

2. व्यापारिक उद्यमों तथा वाणिज्य से प्राप्त आय

मौर्य काल में कुछ उद्योग निजी क्षेत्र में थे, जो पूँजीपतियों द्वारा संचालित होते थे, और कुछ राज्य द्वारा संचालित किए जाते थे, जिनसे राज्य ही सम्बन्धित वस्तुओं का उत्पादन और बिक्री आदि की व्यवस्था करता था, तथा जो लाभ होता था वह राजकोष में जाता था। इसके अतिरिक्त राज्य द्वारा संचालित उद्योग भी होते थे, जिनके संचालन में भी राज्य निजी उद्यमियों से सहयोग लेता था। राज्य अपने कारखानों या खानों को अन्य लोगों को सौंप देता था और बदले में निर्धारित किराया लिया जाता था या उत्पादन का निश्चित भाग प्राप्त करता था।[128]

मौर्यकाल में व्यापार भी समृद्ध स्थिति में था। पण्य (उत्पाद माल) पर, माल के क्रय तथा विक्रय पर, माल के आयात तथा निर्यात पर माल के नगर में आने तथा बाहर जाने पर, अनेक प्रकार से राज्य को आय प्राप्त होती थी।

अर्थशास्त्र[129] में शुल्क, वर्तनी, तारदेय, गुल्देय, अतिवाहिकमृ आदि विभिन्न आय के साधनों का उल्लेख मिलता है, जिसका संक्षिप्त विवेचन निम्न प्रकार है –

(1) शुल्क – अथर्ववेद[130], धर्मशास्त्रों[131], मनुस्मृति[132], अवदानशतक[133] और दिव्यावदान[134] में शुल्क शब्द का उल्लेख मिलता है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि शुल्क विशिष्ट अर्थों में प्रयुक्त कराधान का एक प्रकार था।

अर्थशास्त्र[135] में शुल्क व्यवहार, बाहयाभयन्तर चातिथ्यम् शब्द का प्रयोग मिलता है, जिसका अभिप्रायः वर्तमान में प्रचलित उत्पादन कर, बिक्रीकर, चुँगी एवं आयात–निर्यात कर से ले सकते हैं, इन सबके लिए सामान्य रूप से शुल्क शब्द का प्रयोग किया जाता था।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अनुसार राज्य द्वारा निम्न प्रकार से शुल्क वसूल किया जाता था।

(1) आभ्यान्तर – आभ्यान्तर से आशय यहाँ दुर्ग (नगर) के अन्दर उत्पादन होने वाले माल से हो सकता है।

अर्थशास्त्र के अनुसार उत्पादन स्थान पर कोई भी पण्य नहीं बेचा जा सकता।[136] वह तभी बेचा जा सकता था जबकि उस पर शुल्क अदा कर दिया गया हो। उस समय यह विधान था कि सभी पण्य पहलें शुल्काध्यक्ष के पास लाया जाए।

शुल्क वसूल कर लेने के उपरान्त शुल्काध्यक्ष द्वारा उस पर अभिज्ञान–मुद्रा लगा दी जाती थी, जिसका आशय यह होता था कि शुल्क अदा कर दिया गया है और अब यह पण्य उत्पादन स्थान से बाहर ले जाने योग्य है और विक्रय किया जा सकता है। माल पर अभिज्ञान मुद्रा लगवाने से सम्बन्धित यह शुल्क एक प्रकार का उत्पादन कर होता था। शुल्क अदा न करने की स्थिति में जुर्माने की भी व्यवस्था थी। जुर्माने की कुछ दरें निम्नलिखित थी –

(क) खानों से सीधा खनिज पदार्थ बेचने पर जुर्माना[137]	–	600 पण
(ख) खेतों से अनाज बेचने पर जुर्माना138	–	53 पण
(ग) उद्यानों से फूल व फल बेचने पर जुर्माना139	–	54 पण
(घ) बगीचों से शाक, मूल कन्द आदि बेचने पर जुर्माना[140]	–	51–3/4 पण
(ड.) बिना मुद्रा लगे पण्य के पकड़ने जाने की स्थिति में जुर्माना141	–	प्रदेय शुल्क का दुगना
(च) मुद्रा के नकली पाये जाने की स्थिति[142] में जुर्माना	–	प्रदेय शुल्क का आठ गुना

(2) बाह्य – बाह्य माल से आशय उस माल से था, जिसका निर्माण दुर्ग (नगर) के बाहर होता था। शुल्क अदा करने के उपरान्त व्यापारी उस पर अभिज्ञान मुद्रा लगवा लेता था तथा उसके पश्चात् बेचे जाने के लिए उसे नगर में लाया जाता था।

नगर के प्रवेश द्वार पर शुल्कशाला होती थी और वहाँ से माल पर अभिज्ञान मुद्रा की जाँच की जाती थी। मुद्रा न पाये जाने पर या मुद्रा के नकली सिद्ध होने पर समुचित दण्ड दिया जाता था।

माल के नगर में प्रवेश करने पर या माल के नगर में बाहर जाने की स्थिति में राज्य द्वारा शुल्क वसूल किया जाता था, जिसे चुँगी कहा जाता था।

शुल्क संग्रह स्थान – शुल्क संग्रह का स्थान शुल्क – शाला[143] के नाम से जाना जाता था। इसका निर्माण नगर के मुख्य प्रवेश द्वार पर किया जाता था। इसका मुख पूर्व दिशा अथवा उत्तर दिशा की ओर रखा जाता था। इस भवन पर एक ऊँची पताका लगायी जाती थी, ताकि शुल्क देने वाले दूर से ही स्थान देख लें। वहाँ शुल्क लेने वाले चार या पाँच व्यक्ति बैठे रहते थे, जो व्यापारियों के माल की जाँच करके अपने रजिस्टरों में पूरा विवरण लिखते थे, जैसे पण्य किसका है, कितना है, कहाँ से आया है, कहाँ जायेगा तथा उस पर पिछले सरकारी स्थान की अभिज्ञान मुद्रा लगी है या नहीं। इस प्रकार अनेक बातों की जाँच की जाती थी। यदि पण्य पर पिछले स्थान की मुद्रा नहीं लगी होती थी, तो प्रदेय शुल्क का दुगना वसूल किया जाता था।[144] मुद्रा के जाली अर्थात् नकली पाये जाने पर प्रदेय शुल्क का आठ गुना लिया जाता था।[145] मुद्रा के टूटी हुई पाये जाने पर, बदली हुई मिलने पर दण्ड की व्यवस्था थी।[146]

शुल्क–शाला के समीपस्थ ही व्यापारियों के माल की बोली लगा करती थी। इस प्रकार शुल्क शाला स्वयं में एक व्यापार केन्द्र भी था, जहाँ सामान्यतः वस्तुओं की कीमतें राजकीय विशेषज्ञ के द्वारा निर्धारित की जाती थी और मूल्य का एक निश्चित प्रतिशत (बिक्री हो जाने के उपरान्त विक्रय मूल्य के आधार पर आँकलित)[147] शुल्क के रूप में शुल्काधिकारियों द्वारा प्राप्त कर लिया जाता था। लेकिन अगर क्रेताओं की पारस्परिक प्रतिस्पर्धाओं के कारण वस्तु की कीमत बढ़ जाती थी तो शुल्क के साथ–साथ, बोली में अधिक दाम लगने के कारण फालतु पैसा राजकोष में चला जाता था। बन्दरगाहों पर भी वस्तुओं को सही मूल्यांकन करने के उपरान्त शुल्क प्राप्त करने की व्यवस्था थी।[148]

अपने मार्ग में बन्दरगाहों पर आकर रूकने वाली समुद्री जहाजों से भी शुल्क प्राप्त किया जाता था।[149]

शुल्क की दर – इस काल में साहित्यिक स्त्रोतों से शुल्क की विभिन्न दरों का विवेचन मिलता है।

आपस्तम्ब[150] और गौतम धर्मसूत्रों[151] के अनुसार पण्य के मूल्य का 1/20 भाग शुल्क के रूप में प्राप्त किया जाना चाहिए। बौधायन[152] के कथनानुसार समुद्र मार्ग द्वारा आयातित वस्तुओं पर समुद्र शुल्क की दर पण्य मूल्य का 1/10 भाग होनी चाहिए।

शुल्क की दर निर्धारण करने के पूर्व धर्माचारी की भाँति मनु भी उदार था। उसके मतानुसार राजा का विक्रय मूल्य का 1/20 भाग शुल्क के रूप में ग्रहण करना चाहिए।[153]

कौटिल्य इस विषय में अधिक अनुदार है, वह राजकोष की अधिकाधिक वृद्धि चाहता था। यद्यपि वह विभिन्न प्रकार की वस्तुओं पर विभिन्न दरों का प्रतिपादन भी करता है।[154] नाशवान वस्तुओं पर दर कम होती थी। नयी और पुरानी वस्तुओं के भेद पर भी दरों की भिन्नता देखने को मिलती है। स्थानीय रीति–रिवाज भी दरों के निर्धारण में अपना स्थान रखते थे।[155]

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि राज्य को प्राप्त होने वाले शुल्क की दर, देश काल और पण्य की स्थिति पर आश्रित थी और यह शुल्क पण्य की मात्रा और उसके मूल्य को आधार मानकर नियत किया जाता था। इसी शुल्क में, जो विक्रय कर ";सम ज्ंगद्व लिया जाता है, उसका स्वरूप भी अन्तर्निहित था।

अतः कहा जा सकता है कि मौर्य युग में बिक्री कर पर राज्य द्वारा शुल्क प्राप्त करने की भी व्यवस्था थी। यह शुल्क पण्य में मूल्य के आधार पर लगाया जाता था।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में इस कर की निम्न दर का उल्लेख मिलता है –

1. नापकर बेचे जाने वाले पण्य पर	–	6 1/4 प्रतिशत शुल्क
2. तोलकर बेचे जाने वाले पण्य पर	–	5 प्रतिशत शुल्क
3. गिनकर बेचे जाने वाले पण्य पर	–	9–1/4 प्रतिशत शुल्क

व्यापारी को शुल्क अदा करना अनिवार्य था। परन्तु आज की भाँति उस समय व्यापारी भी शुल्क को बचाने का हर समय प्रयास करते थे। उस समय का पण्य उसकी इस मनोवृत्ति से पर्याप्त परिचित था। राज्य ने कठोर नियम बनाये हुए थे। यदि व्यापारी राज्य को धोखा देकर शुल्क बचाना चाहता था और शुल्कशाला का अतिक्रमण कर आगे बढ़ जाने का प्रयास करता था, तब ऐसे व्यापारी से प्रवेश शुल्क का आठ–गुणा दण्ड स्वरूप प्राप्त किया जाता था।[156] यदि व्यापारी पण्य के प्रमाण को या उसके मूल्य को कम बताकर शुल्क से बचना चाहता था तो ऐसा करने पर व्यापारी का फालतू माल और पैसा जप्त कर लिया जाता था, या उस शुल्क का आठ गुणा भरना पड़ता था।

पेटी या बोरी के ऊपर घटिया माल रखकर नीचे बहुमूल्य माल छिपाकर इस प्रकार उत्कृष्ट माल को कम कीमत का माल बताकर शुल्क बचाने वाले व्यापारी को भी वही दण्ड अर्थात् शुल्क का आठ गुना भरना पड़ता था।[157] शुल्क दी हुई वस्तुओं के साथ बिना शुल्क दी हुई वस्तुओं को छिपाकर ले जाने का प्रयास करने वाले व्यापारियों को भी दण्ड दिये जाने की व्यवस्था के उल्लेख मिलते हैं।[158]

स्पष्ट है कि शुल्क लेने के पूर्व पण्यों की जाँच पड़ताल कर ली जाती थी। वस्तुओं के तोलने, नापने तथा मापने और गिरने की परिपाटी व्यवहार में भी व्यापारी द्वारा दी गई सूचना पर्याप्त नहीं समझी जाती थी। शुल्क अधिकारी पूर्णतः सतर्क रहे थे। उनके द्वारा अपराध किये जाने पर उन्हें भी दण्ड दिये जाने की व्यवस्था थी।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हे कि शुल्क के विषय में मौर्यकाल के अत्यधिक कठोर नियम थे। शुल्क इस काल में राज्य की आय का एक महत्वपूर्ण एवं विश्वसनीय साधन था। इस आय को वसूलने में राज्य पूर्णतः सतर्क रहता था। राज्य निर्दयता से शुल्क का संग्रह करता था। यह सब इसलिए था कि कोई व्यापारी राज्य को धोखा देकर शुल्क बचाने की कोशिश न करें, अन्यथा राज्य का व्यवहार सामान्य लोगों के सहृदय था। राज्य विशेष अवसरों जैसे – विवाह, दहेज का सामान, उपनयन संस्कार, यज्ञकृतय, सन्तान का प्रसव, देव मन्दिर, मुण्डन, व्रत, दीक्षा और अन्य विशिष्ट कर्मकाण्ड[159] पर सामान बाहर से आने पर पण्य द्वारा शुल्क नहीं लिया जाता था। लेकिन यदि कोई व्यक्ति इन प्रयोजनों की आड़ में राज्य को धोखा देता था और शुल्क से बचने का प्रयास करता था, ऐसे व्यक्ति को दण्डित किया जाता था।

3. आतिथ्य से प्राप्त आय

विदेशों से आने वाले सामान को आतिथ्य कहा जाता था। मौर्यकाल में विदेशों से भी व्यापार होता था, देश में विदेशों से माल आता था, और देश का माल विदेशों में भेजा जाता था। मौर्य काल में दोनों प्रकार के माल पर कर लगाने का प्रावधान देखने को मिलता है। वर्तमान में इसे आयात निर्यात कर कह सकते हैं[160], जिसका संक्षिप्त विवेचन निम्न प्रकार से हैं –

(1) प्रवेश शुल्क

आयात कर को प्रवेश शुल्क कहा जाता था।161 सामान्यतः इस कर की मात्रा 20 प्रतिशत थी, लेकिन कौटिल्य के अनुसार भिन्न–भिन्न वस्तुओं पर यह दर भिन्न थी –

International Journal of Geology, Agriculture and Environmental Sciences (peer reviewed journal)
Volume – 9 Issue – 1 January-June 2021 (Special Issue)
Website: www.woarjournals.org/IJGAES *ISSN: 2348-0254*

1. पुष्प, फल, शाक, मूल, कन्द, बीज, सूखी मछली तथा माँस के आयात पर दर–मूल्य का 1/6[162] भाग लगता था।
2. शंख, ब्रज, मणि, मुक्ता प्रवाल और हीरों के आयात पर प्रवेश्य शुल्क का आँकलन इन वस्तओं की कोटि, इनके निर्माण में लगे समय, श्रम, व्यय आदि को ध्यान में रखकर किया जाता था।[163]
3. दुकूल, रेशम, कवच, हरिताल, मनःशिल, हिंगुल, लोह और अन्य धातु चन्दन, अगरू, कटुक, किण्व, आवरण–वस्त्र, सुरा, हाथी दांत, खाल, क्षौम और दुकूल बनाने के लिए कच्चा माल, आस्तरण (गलीचे), प्रावरण (परदे) और कृमिज व ऊनी माल में आयात पर प्रवेश शुल्क की दर वस्तु मूल्य का 10 प्रतिशत से 15 प्रतिशत की थी।[164]
4. वस्तु, चतुष्पाद, चौपाये, द्विपाद, सूत, कपास, सुगन्ध, औषधि, काष्ठ, वेणु, वल्कल, चर्म, मिट्टी के बर्तन, धान्य, तेल, क्षार, लवण, वध, पक्वान्न आदि माल के आयात पर प्रवेश्य शुल्क की दर वस्तु मूल्य के 4 प्रतिशत से 5 प्रतिशत तक थी।[165]

शेष वस्तुओं पर सावधानीपूर्वक विचार करके शुल्क का निर्धारण किया जाता था।

द्वारा देय – कोष राज्य का मूल है, इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर द्वार देय कर वसूल किया जाता था।166 जब भिन्न–भिन्न देशों एवं स्थानों से आने वाला माल नगर में प्रवेश करता था, तब यह द्वार देय कर वसूल किया जाता था। सम्बन्धों के अनुसार राज्य इस कर में रियासत भी कर देता था। ऐसी रियासत को आनुग्रहिक कहा जाता था। अर्थात् यदि कोई अन्य देश मौर्य साम्राज्य के माल के प्रति अनुकूल दृष्टिकोण अपनाकर करों में रियासत प्रदान करता था तो मौर्य साम्राज्य भी उस देश के प्रति रियासत का रवैया अपनाकर उस देश के माल पर अनुग्रह या उपकार की नीति का अनुसरण करता था। इसके विपरित अगर कोई विदेशी मौर्य साम्राज्य में माल पर अधिक कर वसूल करें तो मौर्यों के द्वारा भी उस विदेश के माल पर अधिक शुल्क प्राप्त किया जाता था। सामान्य शुल्क के अतिरिक्त वसूल किये जाने वाले इस कर को 'अत्यय' कहते थे।

इस प्रकार अत्यय और आनुग्रहिक देशों के पारस्परिक सम्बन्धों पर निर्भर करता था। इस विषय में कौटिल्य लिखता है कि देश और जाति के चरित्र के अनुसार नये और पुराने पण्य पर शुल्य नियत किया जाये। अन्य देशों के उपकार करने पर उनसे अत्यय भी लिया जाये।[167] लेकिन अनुकूल परिस्थिति में विदेशी पण्य का अनुग्रह से स्वदेश में प्रवेश कराया जाए।[168]

मौर्यकाल में विदेशी माल की तुलना में स्वदेशी माल को संरक्षण प्रदान करने की नीति भी दृष्टिगत होती है। यह संरक्षण विशेष तौर पर उस माल पर था, जिनके उत्पादन में राज्य का एकाधिकार था। नमक, सुरा आदि राज्य के एकाधिकार में थे। ऐसे माल के आयात पर एक अन्य अतिरिक्त कर वसूल किया जाता था, जिसे **'वैधारण'** कहते थे। वैधारण को लगाने का उद्देश्य यह था कि विदेशी माल के आने से राजकीय व्यवस्था को जो हानि प्राप्त हुई है, उसे हरजाने के रूप में वसूल कर लिया जाये।169 इस प्रकार की संरक्षण नीति का आशय यही प्रतीत होता है कि हानि को बचाया जाए, और राजकीय आय में वृद्धि भी की जा सके।

3. निष्क्राम्य शुल्क

निर्यात किये गये सामान पर जो शुल्क लिया जाता था उसे निष्क्राम्य शुल्क कहते थे। लेकिन कौटिल्य इसकी दर का उल्लेख नहीं करता। केवल विदेशी व्यापार के विषय में कौटिल्य कहता है कि पण्याध्यक्ष निर्यात को बढ़ावा देवे।

4. व्यापारिक साधनों से प्राप्त आय

व्यापारिक साधनों से भी निम्न प्रकार के राज्य से आय होती थी –

1. स्थल मार्ग के साधन

2. जल मार्ग के साधन

1. स्थल मार्ग के साधन

स्थल मार्ग से राज्य को निम्न आय होती थी –

(1) वर्तनी – स्थल मार्ग से जो काफिले (सार्थ) पण्य लेकर सड़को से आते–जाते थे, उन्हें एक प्रकार का कर प्रदान करना पड़ता था, जिसे वर्तनी कहते थे। यह एक प्रकार का सड़क कर था, जो सड़क को इस्तेमाल करने पर लिया जाता था, या फिर मार्ग में दस्यु आदि के प्रकोप का निराकरण करने के बदले वसूल किया जाता था, अतः यह एक प्रकार से मार्ग रक्षा–व्यय के रूप में माना जा सकता है।

राज्य इस कर को प्राप्त करने के बदले में सामान की क्षतिपूर्ति का उत्तरदायित्व निर्वाह करता था। इस कर में आज के युग के बीमा की स्थिति का भाव निहीत प्रतीत होता है। जल मार्ग से भी अपने देश के पण्य को विदेश भेजने के सम्बन्ध में कौटिल्य ने अन्य बातों के साथ–साथ भय प्रतीकार व्यय[170] का भी उल्लेख किया है, जिससे यह स्पष्ट है कि मौर्य युग में पण्य के बीमा कराने की परिपाटी भी विद्यमान रही होगी।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि वर्तनी में मार्ग के संरक्षण का व्यय भी शामिल होता था। अर्थशास्त्र[171] में इस कर को वसूल करने की दरें निम्नलिखित रूप में दी है–

(क) एक गाडी भर सामान पर आदेश – 1–1/4 पण

(ख) गठरी भर (व्यक्ति द्वारा उठाये जाने योग्य सामान पर)	1 पण
(ग) एक खुर वाले पशु पर	1 पण
(घ) पालतु पशु की इकाई पर	1/2 पण
(ड.) छोटे जानवरों पर	1/4 पण

(2) गुल्म/गुल्म देय – अर्थशास्त्र172 में उल्लेख मिलता हे कि विदेशी वस्तुओं से व्यापार करने वाले व्यापारियों को शुल्क, वर्तनी आदि अन्य करों के साथ–साथ गुल्म देय का भी भुगतान करना होता था। मनुस्मृति[173] में कहा गया है कि राजा को अपने राज्य को सुरक्षित करने की दृष्टि से दो, तीन, पाँच या सौ ग्रामों के मध्य में शुल्क रखना चाहिए।

ऐसा प्रतीत होता है कि गुल्म एक सैनिक चौकी थी और यह भी प्रतीत होता है कि व्यापारियों के माल की सुरक्षा के लिए राज्य की ओर से यह सैनिक चौकी स्थापित की जाती थी और इसके खर्चे का भार व्यापारियों से गुल्म देय या गुल्म के नाम से वसूल किया जाता था।

पतंजलि के महाभाष्य में एक अधिकारी गौल्मिक का उल्लेख मिलता है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी, गुल्माध्यक्ष शब्द का उल्लेख मिलता है। सैनिक चौकी का अध्यक्ष गौल्मिक कहलाता था तथा उसका कार्य विदेशी व्यापार में लगे व्यापारियों से गुल्म वसूल करना था। अर्थशास्त्र174 के अनुसार ब्राह्मण व्यापारी गुल्म कर से मुक्त थे।

2. जल मार्ग के साधन

मौर्य काल में जल मार्ग से निम्न आय होती थी –

(1) तर – मौर्यकाल में समुद्री मार्गों से राज्य को जो आय होती थी उसे तर, तरपण्य तथा तरदेय[175] आदि नामों से जाना जाता था। इस युग में समुद्र और नदियों पर राज्य का एकाधिकार होता था, अतः इनका प्रयोग करने वालों से कर वसूल किया जाता था। बदले में राज्य जल मार्गों की व्यवस्था तथा सुरक्षा प्रदान करता था।

राज्य में बडे–बड़े जहाज होते थे। ये व्यापारियों को माल ढोने के लिए किराये पर दिये जाते थे, उनसे राज्य कर वसूल करता था।

नदी और समुद्र का प्रयोग करने के लिए राज्य की ओर से नियुक्त कर्मचारी की स्वीकृति अनिवार्य मानी जाती थी। अर्थशास्त्र[176] में राजकीय बेड़ो का उल्लेख मिलता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि मौर्य काल में व्यापरिक उद्यमों तथा वाणिज्य से जो आय प्राप्त होती थी, उसने तत्कालीन अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ता प्रदान करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।

3. राजकीय आय के अन्य स्त्रोत

मौर्यकाल में भूराजस्व एवं भूमि से सम्बद्ध आय तथा व्यापारिक उद्यमों तथा वाणिज्य से प्राप्त आय के अतिरिक्त निम्न स्त्रोतों से भी राज्य को आय प्राप्त होती थी।

(1) तोल, बाँटो और मानों पर कर – व्यापारी अपनी व्यापारिक गतिविधियों के संचालन के लिए नाप–तोल के बाँटों आदि का प्रयोग करते थे। ये बाँट और मान आदि उपकरण राज्य द्वारा प्रमाणित किये जाते थे। व्यापारियों को निर्धारित अध्यक्षों द्वारा प्रति चौथे महीने इन उपकरणों पर मुहरे लगवानी होती थी, जिसके लिए चार पाषक कर लिया जाता था।

इसके अतिरिक्त इन उपकरणों का प्रयोग करने वाले व्यापारियों को, इन प्रमाणित बाँटों आदि का प्रयोग करने के लिए, एक काकणी प्रतिदिन के हिसाब से भी प्रदान करनी होती थी। ऐसे कर भार को प्रतिवेधानिकम[177] कहते थे, जिसे वसूल करने वाला राज्य कर्मचारी पौतवाध्यक्ष कहलाता था। समय–समय पर व्यापारियों के बाँट आदि उपकरणों की जाँच होती रहती थी, और जिनके ये उपकरण राज्य द्वारा प्रमाणित नहीं पाये जाते थे, उनमें 27.25 पण जुर्माना वसूल किया जाता था।[178]

(2) आज्ञा–पत्र से प्राप्त आय – राज्य में प्रवेश एवं बहिर्गमन के लिए शासन से आज्ञा–पत्र लेना आवश्यक था। इसके लिए यात्री से एक ताम्बे का सिक्का वसूल किया जाता था।[179]

(3) ग्राम व नगर प्रबन्ध से प्राप्त आय – मौर्यकाल में नगरों में गोप और ग्रामीण क्षेत्रों में स्थानिक कर्मचारियों की नियुक्ति की जाती थी। ये कर्मचारी नगर एवं ग्रामीण क्षेत्रों में व्यवस्था एवं प्रबन्ध के अतिरिक्त परिवारों का विवरण भी रखते थे। इस विवरण में उनका व्यवसाय, आय, खर्च, परिवार के सदस्यों की संख्या आदि शामिल होती थी।[180] ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है कि गृहस्थों को इस कार्य के लिए राज्य को एक प्रकार का कर अदा करना पड़ता था।

International Journal of Geology, Agriculture and Environmental Sciences (peer reviewed journal)
Volume – 9 Issue – 1 January-June 2021 (Special Issue)
Website: www.woarjournals.org/IJGAES *ISSN: 2348-0254*

(4) धूत से प्राप्त आय – राज्य में जुआरी लोग निश्चित स्थान पर जुआ खेलते थे। राज्य द्वारा धूत शालाएँ संचालित की जाती थी। राज्य जीतने वाले से जीत का 5 प्रतिशत कर के रूप में वसूल करता था।[181] यदि निर्दिष्ट स्थानों के अलावा किसी स्थान पर जुआ खेला जाता था तथा जुआ के दौरान धोखा–धड़ी करने पर राज्य द्वारा जुर्माना वसूल किया जाता था।[182] जिससे राज्य को आय प्राप्त होती थी।

(5) विविध व्यवसायों से आय – मौर्यकाल में कारीगरों एवं व्यवसायिकों को अपना स्वयं का व्यवसाय करने के लिए राज्य को कर देना पड़ता था। इसके अतिरिक्त इस काल में शिल्पी तथा विभिन्न वस्तु बनाने वाले कारीगरों को महीने में एक दिन श्रम 'कर' के रूप में राज्य को देना पड़ता था। इसके अतिरिक्त राज्य से प्रमाणित करवाये जाने के लिए उन्हें अलग से फीस देनी होती थी।[183] धोबी, सुनार, तन्तुवाय, चिकित्सक आदि सभी राज्य की आय के स्त्रोत थे और नियापानुकूल कार्य न करने पर इन्हें दण्डित भी किया जाता था।

इसी प्रकार गणिकायें भी एक माह में दो दिन की अपनी आय, राज्य को कर के रूप में देती थी।[184] गणिकाओं को प्रतिदिन की आय की सूचनाओं राज्य कर्मचारी को देनी होती थी।

इसके अतिरिक्त अभिनेताओं, नृतकियों, नर्तकों, गायकों, कुशीलन, प्लवक (रस्से पर नाचने वाले), सौभिक (जादूगर) आदि से भी अपनी दैनिक आमदनी का दुगुना प्रतिमास कर के रूप में देना पड़ता था।[185] यदि नट, नृतक, गायक आदि कहीं बाहर से आकर तमाशा दिखाते थे, तो उन्हें भी ऐसा कार्य करने के लिए पूर्व अनुमति प्राप्त करनी होती थी, जो उन्हें पाँच पण प्रेक्षावेतन प्रदान करने के उपरान्त ही प्राप्त होती थी।

राज्य की अपनी गणिकाएँ भी होती थी। यदि इनमें से कोई स्वच्छन्द होना चाहती थी तो उसे अपने लिए 24000 पण और अपने बेटे की मुक्ति के लिए 12000 पण राज्य को प्रदान करने होते थे।[186]

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मौर्यकाल में व्यवसाय कर का प्रचलन था, जो कि उनकी आय के अनुपात में वसूल किया जाता था।

राज्य द्वारा संचालित व्यवसायों की आय

मौर्यकाल में खाने, वन, नमक, अस्त्र–शस्त्र और सुरा आदि अनेक व्यवसाय थे, जिन पर राज्य का पूर्ण आधिपत्य था और इनका संचालन भी राज्य द्वारा किया जाता था। इन व्यवसायों से भी राज्य को आय प्राप्त होती थी।

(1) खानों से आय – मौर्यकाल में खानों का व्यवसाय राज्य की आय का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्रोत था। कौटिल्य के अनुसार खान से राजकोष जन्म लेता है।[187]

मौर्यकाल में दो प्रकार की खाने थी –

1. स्थल खाने
2. जल खाने

स्थल की खानों से सोना, चाँदी, लोहा, ताम्बा, नमक आदि प्राप्त किया जाता था और जल की खानों से मुक्ता, शुक्ति, शंख आदि की प्राप्ति होती थी।

अर्थशास्त्र[188], हाथीगुम्फा शिलालेख[189], महाभारत तथा रामायण[190] और बौद्ध साहित्य[191] में अनेक उल्लेख खानों की इस सम्पदा को परिपुष्ट करते हैं।

खानों से सोना, चाँदी, कीमती, पत्थर, नमक आदि विभिन्न प्रकार की सम्पदा की प्राप्ति करना और इसकी विक्रय आदि की व्यवस्था करने का पूर्ण उत्तरदायित्व अकाराध्यक्ष पर होता था। कौटिल्य ने खानों से प्राप्त होने वाली आय के 10 प्रकार बतलाऐं हैं[192] जो मूल्य, विभाग, ब्याजी, परिध, अत्यय, शुल्क, वैधारण, दण्ड रूप एवं रूपिक हैं।

यद्यपि मौर्यकाल में खानों पर राज्य का सर्वथा एकाधिकार था, लेकिन जहाँ कार्य कठिन होता था और जिन खानों से अधिक पूँजी की आवश्यकता होती थी, उन खानों को किराये पर अन्य लोगों को कार्य करने के लिए दे दिया जाता था। खानों से प्राप्त होने वाली वस्तु के हिस्से के आधार पर प्रक्रय किया जाता था।[193] मनु भी इस प्रकार की व्यवस्था का समर्थन करता है, उसके अनुसार राजा को खानों से प्राप्त होने वाली धातुओं का आधा भाग प्राप्त कर लेना चाहिए।[194] दूसरी ओर **मेगस्थनीज** राजा द्वारा खानों एवं खनिजकर्म से प्राप्त राजस्व के सम्बन्ध में पूर्णतः मौन है।

(2) नमक से आय – मौर्यकाल में नमक का व्यवसाय राज्य के अधीन था। पर्वतीय खानों, समुद्रों तथा झीलों से नमक प्राप्त किया जाता था।

नमक के व्यवसाय की व्यवस्था और संचालन का उत्तरदायित्व लक्षणाध्यक्ष का होता था, जो आवश्यकता पड़ने पर नमक बनाने या खानों से नमक खुदवाने का कार्य ठेके पर भी देता था।

निजी पूँजीपतियों से नमक का व्यापार करने के लिए राज्य से आज्ञा पत्र प्राप्त करना पड़ा था। घटिया एवं मिलावटी नमक बेचने वाले को दण्डित किया जाता था। लेकिन वानप्रस्थ नमक का निर्माण कर सकते थे, उन्हें इसके लिए दण्डित नहीं किया जाता था।[195] वेदपाठी, तपस्वी और लवण के कारखानों में कार्य करने वाले मजदूर अपने उपयोग के लिए निःशुल्क नमक ले जा सकते थे।[196] नमक के व्यवसाय से राज्य को निम्नलिखित आय होती थी।[197]

(1) लवण भाग – ठेके पर नमक तैयार करने पर राज्य को नमक का एक निश्चित हिस्सा प्राप्त होता था, जिसे 'लवण भाग' कहा जाता था।

(2) **प्रक्रय** – ठेके पर नमक तैयार करवाने पर राज्य को खान का जो किराया प्राप्त होता था, वह आय 'प्रक्रय' कहलाती थी।

(3) **उत्पादन शुल्क** – ठेके पर नमक तैयार करवाऐं, जाने पर राज्य के व्यापारियों से उत्पादन शुल्क वसूल किया जाता था।

(4) **विक्रय शुल्क** – आज्ञा–पत्र प्राप्त किये जाने की दशा में राज्य उनसे नमक पर विक्रय शुल्क प्राप्त करता था।

(5) **व्याजी** – आम जनता के बाँटों के और राज्य के बाँटों में अन्तर होता था, इससे राज्य को प्राप्त होने वाली आय 'व्याजी' कहलाती थी।

(6) **रूप** – नमक का जो मूल्य राज्य को चुकाया जाता था, इस मुल्य के अतिरिक्त व्यापारी को मूल्य का 8 प्रतिशत अतिरिक्त प्रदेश राशि भी जमा करानी होती थी। यह अतिरिक्त राशि 'रूप' कहलाती थी।

विदेश से आने वाले नमक की बिक्री पर भी राज्य को निम्न आय प्राप्त होती थी–

1. **कर की प्राप्ति** – यह नमक के कुल मूल्य का 1/6 भाग होता था।

2. **विक्रय शुल्क की प्राप्ति** – यह राशि, खरीदने वाला देता था।

3. **व्याजी की प्राप्ति** – यह मूल्य का 5 प्रतिशत बेचने वाला व्यापारी देता था।

4. **रूप की प्राप्ति** – मूल्य का 8 प्रतिशत यह 'रूप' भी बेचने वाला व्यापारी

अदा करता था।

5. **वैधाकरण की प्राप्ति** – बाहरी नमक के राज्य में बिकने आने की स्थिति में राज्य के अपने नमक व्यवसाय में जो क्षति होती थी, उस क्षतिपूर्ति के लिए क्रेता–व्यापारी को 6 प्रतिशत हर्जाना देना पड़ता था।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मौर्यकाल में नमक से राज्य को पर्याप्त आय होती थी। पहाड़ों की खानों से प्राप्त नमक से आय को विश्वस्त माना जाता था।[198] रामायण[199] में राम द्वारा अयोध्या की खानों के बारे में भरत से जानकारी प्राप्त करने का उल्लेख है। इससे भी यह स्पष्ट होता है कि तत्कालीन शासकों द्वारा आय के साधनों पर समुचित ध्यान दिया जाता था।

3. रत्न, मुक्त आदि उद्योगों से आय –

मौर्यकाल में मणि मुक्ता का व्यवसाय काफी उन्नत था और यह आय प्राप्ति का एक महत्वपूर्ण तथा अच्छा साधन था।

4. लोहाध्यक्ष के अधीन संचालित कारखानों से प्राप्त आय

मौर्यकाल में ताम्र, त्रपु, वैकृन्तक आदि अनेक धातुओं के कारखाने थे, जहाँ विविध वस्तुओं का निर्माण किया जाता था। इन वस्तुओं की बिक्री की व्यवस्था राज्य द्वारा की जाती थी, जिससे राज्य को पर्याप्त आय प्राप्त होती थी।

इस काल में सौवर्णिक होते थे, जो लोगों के निजी प्रयोग में लाई जाने वाली सोने एवं चांदी की वस्तुओं का निर्माण करते थे।[200] यहाँ यह भी उल्लेख मिलता है कि अगर कोई व्यक्ति राजकीय सौवर्णिक की उद्योगशाला से वस्तुओं का निर्माण न कराकर अन्य स्थान से निर्माण करता था, तो 12 पण जुर्माना देना पड़ता था।

मुद्रा पद्धति के संचालन हेतु विविध धातुओं के मिश्रण से सिक्कों का निर्माण करवाकर भी राज्य आमदनी करता था।

5. सुरा व्यवसाय से आय

मौर्यकाल में सुरा का निर्माण और उसकी बिक्री करना राज्य के नियन्त्रण में था। सुरा बनाने वालों को राज्य को फीस देकर आज्ञा–पत्र (लाइसेन्स) प्राप्त करने होते थे[201] और सुरा की बिक्री करने वालों को मूल्य का 1/10 भाग शुल्क के रूप में राज्य को प्रदान करना होता था। महाभारत[202] में भी शराबखानों से प्राप्त होने वाली आय का उल्लेख मिलता है। **मेगस्थनीज** मौर्यकाल में मद्यपान के प्रतिबन्ध का उल्लेख करता है। किन्तु यह सम्भव है कि **मेगस्थनीज** ने भ्रमवश ब्राह्मणों द्वारा सुरापान पर प्रतिबन्ध का अर्थ मद्यपान पर सामान्य प्रतिबन्ध के रूप में लगा लिया हो।[202अ]

6. वनों से आय

वन राज्य की सम्पत्ति होते थे। अर्थशास्त्र[203] में हस्तिवन तथा द्रव्यवन का उल्लेख मिलता है। वन राज्य की सम्पत्ति होने के कारण जो कोई भी इन वनों को किसी प्रकार से हानि पहुँचाता था, उसे जुर्माना आदि से दण्डित किया जाता था।[204] वनों से प्राप्त होने वाले कच्चे माल तथा उनसे बनाई गई विभिन्न वस्तुओं के विक्रय से और वन क्षति पूर्ति हेतु किए गए जुर्मानों आदि से भी राजकोष में पर्याप्त आय होती थी।

7. नदियों तथा तालाबों से प्राप्त आय

मौर्यकाल में नदियाँ, झीलें तथा तालाब राज्य के अधिकार में थे। राज्य द्वारा नियुक्त अधिकारियों द्वारा इनसे भी आय प्राप्त की जाती थी।[205] कौटिल्य के अर्थशास्त्र में उदकभाग[206] शब्द का उल्लेख आया है। इससे यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि सिंचाई के रूप में पानी प्रदान कर राज्य द्वारा आय प्राप्त की जाती थी। मेगस्थनीज **(स्ट्रैबो द्वारा उद्धृत)** के अनुसार भारत की नदियों में स्वर्णकण पाये जाते थे। जिससे राजा को कर मिलता था।[206अ]

इस काल में सिंचाई के विभिन्न साधनों पर कर की विभिन्न दरें थी –

(क) हस्तप्रावर्तिमम् – जो हाथ से सिंचाई करते थे, उनसे उपज का 1/5 भाग वसूल किया जाता था।

(ख) स्कन्धकावर्तिमम् – जो कन्धो से पानी ले जाकर सिंचाई करते थे, उनसे उपज का 1/4 भाग वसूल किया जाता था।

(ग) स्त्रोतोयन्त्रपरावर्तिमम् – जो पानी उठाने वाले यन्त्रों से सिंचाई करते थे, उनसे उपज का 1/3 भाग वसूल किया जाता था।

(घ) नदी–सरस्ताडाककूपोद्धातम् – जो नदियों, तालाबों, कुँओं से पानी को ले जाकर सिचांई करते थे, उनसे उपज का 1/4 भाग वसूल किया जाता था।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में प्रयुक्त सेतु शब्द का आशय, फलों, फूलों व सब्जियों के बगीचों और पानी भरे तालाबों और खेतों से हैं, जहाँ जड़े उगाकर फसले तैयार की जाती थी। इन बाग बगीचों से राज्य को जो आय प्राप्त होती थी, उसे सेतु कहा जाता था।[207]

बौद्ध साहित्य[208] में भी राजकीय तालाबों और झीलों का उल्लेख है, जिनसे सम्भवतः सिंचाई की जाती थी। वर्तमान भारत में भी नहरों तथा टयूब वैलों के पानी से सिंचाई सुविधाऐं प्रदान करने पर राज्य द्वारा धन वसूल किया जाता है, किन्तु तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाए तो स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारत में ये दरें अपेक्षाकृत अधिक थी।

अर्थशास्त्र में प्रयुक्त कैष्ठेयक[209] शब्द भी आय का एक साधन माना गया है। **डॉ. शामशास्त्री** के अनुसार इससे आशय उस आय से हैं, जो राज्य द्वारा निर्मित झीलों और तालाबों से सिंचाई सुविधायें प्रदान कर राज्य द्वारा कर के रूप में प्राप्त की जाती थी, लेकिन डॉ. **यू. एन. घोषाल**[210] के अनुसार कैष्ठेयक का अभिप्राय राजा की भण्डारगृह से प्राप्त होने वाली आय से है।

नदियों के स्तरों से लोगों द्वारा सोना एकत्रित किया जाता था, उसका कुछ भाग राजा को देना होता था, लेकिन इससे राज्य को कितनी आय प्राप्त होती थी, इस सन्दर्भ में स्पष्ट साक्ष्यों के अभाव में कुछ नहीं कहा जा सकता है।

8. वस्त्र उद्योग से आय

अर्थशास्त्र211 के अनुसार वस्त्र कातने व बुनने के राज्य के अपने विभाग होते थे, जहाँ बडी संख्या में मजदूरों को नियुक्त किया जाता था। इसके द्वारा निर्माण सामग्री से भी राज्य को आय प्राप्त होती थी।

9. कट्टी खानों से आय

अर्थशास्त्र[212] के अनुसार मौर्यकाल में सरकारी कट्टी खाने थी, जहाँ पशु आदि काटे जाते थे। अन्यत्र काटे गए पशुओं के मांस की बिक्री वर्जित थी। कट्टी घर का अध्यक्ष सूनाध्यक्ष कहलाता था, जो अपरिग्रहीत जंगली पशुओं का 1/6 भाग, मछलियों और पक्षियों का 1/10 भाग, मृग–पशुओं का 1/10 भाग वसूल करता था।[213]

10. राज्य द्वारा अधिकृत व्यापार से आय

मौर्यकाल में राजकीय कर्मान्तों द्वारा उत्पादित वस्तुओं की बिक्री का उत्तरदायित्व भी राज्य का ही होता था। इसके लिए राज्य द्वारा **पण्याध्यक्ष** की नियुक्ति की जाती थी, जिसकी सहायता के लिए अनेक कर्मचारी नियुक्त किये जाते थे, जिन्हें पण्याधिष्ठाता कहते थे लोग विक्रय हेतु पण्याध्यक्ष से प्रातः माल प्राप्त करते थे और उसे बेचकर सारा हिसाब–किताब दिन के आठँवे भाग में पण्याध्यक्ष को प्रस्तुत कर देते थे। साथ ही तराजू, बाँट और मापने आदि के उपकरण भी लौटा देते थे।[214]

स्वदेश में उत्पादित राजकीय पण्य के विक्रय का एक ही केन्द्र होता था वहीं से यह पण्य सीधा लोगों को और व्यापारियों को बेचा जाता था। लेकिन वे व्यापारी राज्य द्वारा निर्धारित कीमत पर ही माल को बेच सकते थे।

कौटिल्य एक ही स्थान पर पण्य को इकट्ठा करके बेचने के उत्पन्न दोषों से भी परिचित था, अतः वह इन दोषों से बचने की सलाह देता है।[215]

स्पष्ट है कि राज्य अपने देश में उत्पन्न पण्य और विदेशों में क्रीत पण्यों से व्यापार करता था, लेकिन कीमतों का निर्धारण जनता के हित को ध्यान में रखकर ही किया जाता था। अर्थशास्त्र[216] में स्पष्ट उल्लेख है कि सब प्रकार के माल को प्रजा के प्रति अनुग्रह की दृष्टि से बिकाया जाए। राज्य ऐसा कोई काम चाहे वह कितना ही अधिक क्यों न हो, प्राप्त न करें जिससे प्रजा को हानि होती हो।

11. पशुपालन से आय – मौर्यकाल में पशुओं के पालन और संवर्धन का कार्य भी राज्य की ओर से किया जाता था। इस कार्य के लिए राज्य की ओर से 'गोऽध्यक्ष अश्वाध्यक्ष' आदि कर्मचारी की नियुक्ति की जाती थी, ये कार्य भी राजकोष की वृद्धि के साधक थे।

12. दण्ड या जुर्माना से प्राप्त आय

मौर्यकाल में भय एवं आतंक पैदा करने के उद्देश्य[217] से जुर्माने की व्यवस्था थी ताकि कानून का उल्लंघन करने वाले या अन्य गलत कार्य करने वाले दुष्टों को रोका जा सके और समाज में व्यवस्था की स्थिति बनी रहे। शारीरिक दण्ड़ों को जुर्माने के रूप में भी परिवर्तित कराया जा सकता था।

डॉ. शामशास्त्री[218] के अनुसार अर्थशास्त्र में ही 340 प्रकार के जुर्मानों का उल्लेख मिलता है। जुर्माना पर भी रूप और व्याजी की व्यवस्था थी[219] जैसे 10 पणों तक जुर्माने पर 8 प्रतिशत अतिरिक्त रूप से तथा 100 पणों के ऊपर जुर्माने पर 5 प्रतिशत अतिरिक्त व्याजी। अर्थशास्त्र के अनुसार इन शुल्कों में सिक्के बनवाने का प्रभार भी सम्मिलित था। इसकी तुलना मध्ययुगीन यूरोप में सामंत अथवा राजा द्वारा वसूल किये गये मुद्रानिर्माण शुल्क से होने वाली आय से तथा इससे भी अधिक अनेक यूरोपीय देशों में आधुनिक काल तक प्रचलित मुद्रा प्रभार से की जा सकती है।

13. राजकीय आय के अनियमित साधन

मौर्यकाल में राजकीय आय के निम्न साधन अनियमित थे –

(क) विष्टि – यह एक प्रकार का बलात् श्रम था, जो लोगों से उनके देय करों के बदले में प्राप्त किया जाता था। अर्थशास्त्र[220] में सिहनिक शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसका अभिप्रायः उस कार्य से होता था, जो व्यक्ति की देय–करों के बदले में करना होता था। लेकिन अर्थशास्त्र से यह उल्लेख नहीं मिलता है कितने कर के बदले में कितना और कैसा कार्य करना होता था। बाद में धर्मशास्त्रियों[221] ने इस विषय में उल्लेख किया है कि शिल्पियों आदि को राजा को देयकर के बदले में माह के एक दिन का श्रम देना होता था। महाभारत[222] से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है।

(ख) उपहारों एवं भेटों से प्राप्त आय – अर्थशास्त्र में **उत्संग**[223] और **औपयानिक**[224] दो शब्दों का उल्लेख मिलता है। व्याख्याकार **भट्टस्वामी** ने इन शब्दों का अभिप्राय भेंटों व उपहारों से लगाया है, जो राजा को प्रदान की जाती थी, लेकिन **शाम शास्त्री** उत्संग शब्द का अर्थ राजकुमार के जन्म जैसे उत्सवों पर लोगों द्वारा दी जाने वाली भेंटों से लगाते हैं। ऐसे अवसरों पर लोग अपनी प्रसन्नता के भाव को प्रदर्शित करने की इच्छा से अन्य व्यक्तियों से बढ़–चढ़ कर भेंट व उपहार देते थे। अतः इन्हें उत्संग मानना अधिक उचित है। वैसे राजा को प्राप्त होने वाली सभी भेटे व उपहार औपचारिक तो है ही। बौद्ध एवं संस्कृत साहित्य के अनुसार लोग राजा को अभिषेक में (चट्टमंगल दिवस) के अवसर पर पण कर लेते थे। वे राजा के मिलने के समय पर उसे देने के लिए उपहार ले जाते थे।[225]

जनहित में किए गये धार्मिक कार्यों व अनुष्ठानों में भी राजाओं को स्वेच्छानुसार भेटे दी जाती थी।[226] इसके अतिरिक्त शासकों को अपने अधीनस्थ सामन्तों से भी उपहार मिलते थे। **हाथीगुम्फा अभिलेख**[227] में उल्लेख मिलता है कि कलिंग के राजा खारवेल ने पाण्डय नरेश तथा अन्य राजाओं से कीमती मोती, गहने तथा विभिन्न नस्लों के पशु प्राप्त किये थे। रामायण[228] एवं महाभारत[229] में भी इक्ष्वाकुओं तथा पाण्डुओं द्वारा अन्य राजाओं से उपहार प्राप्ति का उल्लेख मिलता है।

(ग) लावारिस सम्पत्ति से आय – यदि कोई व्यक्ति बिना वारिस के अपनी सम्पति को छोडकर मर जाता था, वह सम्पत्ति राज्य की हो जाती थी।[230] ब्राह्मणों की सम्पत्ति अन्य योग्य ब्राह्मणों में बाँट दी जाती थी[231] अर्थशास्त्र में उल्लेख मिलता है कि वेश्या की सम्पत्ति, उसके मर जाने की स्थिति पर या विदेश चले जाने पर या उस द्वारा कोई वैधानिक वारिस नियुक्त नहीं किये जाने जाने की दशा में राज्य को प्राप्त होती थी।[232] बौद्धसाहित्य से भी इन्हीं तथ्यों की पुष्टि होती है कि बिना वारिस के व्यक्ति के मर जाने या उसके संसार परित्याग कर देने पर, उसकी सम्पत्ति राजकोष में जमा होती थी।[233] खोई हुई सम्पत्ति या भूली हुई सम्पत्ति भी जिसका कोई स्वामी नहीं होता था, राजकोष में जमा होती थी।[234]

मनु के अनुसार खोई हुई सम्पत्ति पर तीन वर्ष के उपरान्त ही राज्य का अधिकार बनता था। यदि उस सम्पत्ति का स्वामी इससे पहले लौट आता था और अपने अधिकार को सिद्ध करता था तो वह राज्य को अपनी सम्पत्ति का 1/6 या 1/10 या 1/12 भाग अवधि के अनुसार देकर अपनी सम्पत्ति प्राप्त कर सकता था।[235] कौटिल्य के अनुसार सरकारी चुंगियों में पड़ी हुई सम्पत्ति, जिसको कोई छुडाने नहीं आता था, उसे भी 1/2 माह में उपरान्त राज्य द्वारा जब्त कर किया जाता था।[236] इस समय के बाद आया हुआ उसका स्वामी अगर अधिकार को सिद्ध कर देता था, तो निर्धारित दर पर शुल्क जमा करके उसे प्राप्त कर सकता था। अनिर्णित सम्पति पर राज्य का ही अधिकार माना जाता था।[237]

(घ) गुप्त निधि से आय – छिपे हुए धन अथवा गुप्त निधि से भी राज्य को आय प्राप्त होती थी। कौटिल्य[238] के अनुसार छिपे हुए धन अथवा निधि का पता चलने पर व्यक्ति द्वारा तुरन्त राज्य को सुचित करना चाहिए। यदि वह निधि एक लाख पण से कम की होती थी, तो राज्य द्वारा 1/6 भाग निधि का पता लगाने वाले व्यक्ति को पुरस्कार के रूप में प्रदान कर दिया जाता था और शेष 5/6 भाग राजकोष को प्राप्त होता था।[239] एक लाख पण से अधिक की निधि होने पर राज्य सम्पूर्ण निधि को जब्त कर लेता था। यदि निधि वंशगत सम्पत्ति सिद्ध कर दी जाती थी, तो व्यक्ति को उसे अपने पास रखने की अनुमति दे दी जाती थी, यदि निधि को पाकर कोई व्यक्ति राज्य को बिना बताये अपने पास रखने का प्रयास करता था, तो उसे एक हजार पण जुर्माना किया जाता था।

स्मृतियों में इस विषय में कुछ भिन्नता है। मुन[240] के अनुसार प्राप्त निधि का आधा भाग राज्य अपने पास रख लेता था और आधा भाग ब्राह्मणों में बाँट दिया जाता था। उपलब्ध निधि पर व्यक्ति का अपना अधिकार सिद्ध करने पर दिये जाने की स्थिति में 1/6 या 1/2 भाग राज्य को देकर शेष भाग व्यक्ति अपने पास रख सकता था। यदि उसका अधिकार झुठा सिद्ध होता था तो व्यक्ति से सम्पत्ति के मूल्य का आठ गुणा दण्ड स्वरूप वसूल किया जाता था। बौद्ध साहित्य[241] से यह भी ज्ञात होता है कि ऐसी उपलब्ध निधियाँ सामान्यतः राज्य की ही सम्पत्ति होती थी।

मौर्यकाल में राज्य लोगों को निश्चित अवधि के लिए निश्चित दर पर ऋण भी उपलब्ध कराता था और उधार दी हुई राशि पर ब्याज प्राप्त कर आमदनी को बढ़ाता था।[242] इसके अतिरिक्त राज्य ऋण सम्बन्धी झगड़े की स्थिति में फैसले करता था, तथा इसके बदले में ऋण दाता और कर्जदार दोनों से ही धन प्राप्त करता था।[243]

संकटकाल में अनेकविध उपायों द्वारा आय में वृद्धि

सूखा, अतिवृष्टि, मनुष्यकृत युद्ध, आकस्मिक विपत्ति, प्राकृतिक प्रकोप के समय राज्य अनेक प्रकार से आय के स्रोतो को बढ़ाता था। कौटिल्य के अनुसार आपातकाल में किसानों, व्यापारियों, शिल्पियों, पशुपालकों आदि से विशिष्ट कर वसूल करता था। अर्थशास्त्र के अनुसार इसकी दर विभिन्न थी –

(क) किसानों से उत्पादन का 1/3 से 1/4 भाग तक वसूल किया जाता था।[244]

(ख) व्यापारियों और शिल्पियों को 2 प्रतिशत से 50 प्रतिशत तक शुल्क अदा करने के लिए कहा जाता था।[245]

(ग) पशुपालकों[246] से भी विशेष कर वसूल किया जाता था। मुर्गी और सूअर पालने वाले से यह 50 प्रतिशत भेड़, बकरी आदि छोटे पशुओं को पालने वालों से 16.2 प्रतिशत तथा गाय, भैस, खच्चर, गधे तथा ऊँट पालने वालों से यह 10 प्रतिशत वसूल किया जाता था।

अर्थशास्त्र के अनुसार आपातकाल में राज्य द्वारा यह अतिरिक्त कर केवल एक बार ही वसूल किया जाता था, दो या दो से अधिक बार नहीं।[247] मनु भी ऐसे समय में किसानों से उनके उत्पादन का 1/4 भाग प्राप्त कर लिए जाने का प्रतिपादन करता है।[248] बौद्ध साहित्य[249] भी ऐसे काल में विशेष करों की पुष्टि करता है तथा महाभारत[250] भी यह बताता है कि कठिनाई के समय राजा लोगों से अतिरिक्त कर भार वहन करने के लिए कह सकता था।

प्रणय – मौर्यकाल में विशिष्ट प्रयोजनों की पूर्ति हेतु राज्य द्वारा चन्दा एकत्रित किया जाता था। यह एक प्रकार से राज्य की जनता से भिक्षा याचना थी।[251] अधिक धन प्रदान करने वालों को राज्य द्वारा पदक आदि प्रदान कर सम्मानित भी किया जाता था।[252]

बलात् धन प्राप्ति – जब प्रणय द्वारा भी राज्य के अर्थ संकट का निवारण न हो तो राज्य धनी लोगों से बलात् धन छीन लेता था। महाभारत[253] में उल्लेख मिलता है कि जब देश युद्ध विभीषिका से ग्रस्त हो और कोष सर्वथा समाप्त हो गया हो, तो राजा को यह अनुमति है कि संन्यासियों, ब्राह्मणों को छोड़कर तथा युद्ध में लगे व्यक्तियों को छोड़कर अन्यों से देश हित में धनों को छीन ले।

अर्थशास्त्र में तो अत्यधिक संकटकाल में देवमन्दिरों के धनों को भिक्षु–संघों और धार्मिक सम्प्रदायों के धनों को भी हर लेने की बात कही गई है।[254]

ऋण से आय – कौटिल्य के अर्थशास्त्र में यह उल्लेख मिलता है कि देश को संकट से उबारने के लिए धन प्राप्त करने हेतु धोखाधड़ी करने से भी नहीं चुकना चाहिए। अर्थशास्त्र में उल्लेख मिलता है कि गुप्तचर व्यापारी के रूप में जाकर अन्य व्यापारी से प्रभूत धन ऋण के रूप में प्रदान करें तदन्तर यह घोषित कर दें कि रात के समय यह सब धन लूट लिया गया है।[255] राज्य द्वारा ऋण प्राप्त करने की पुष्टि बौद्ध साहित्य से भी होती है। अवदानशतक[256] में उल्लेख मिलता है कि एक व्यापारी ने कौशल के राजा प्रसेनजीत को मगध के राजा पर आक्रमण करने के लिए ऋण प्रदान किया था।

सम्पत्ति की जब्ती से आय – अर्थशास्त्र में ऐसी अनेक परिस्थितियों का निरूपण मिलता है, जिनमें राज्य सम्पत्ति को जब्त कर लेता था।[257]

अशोक के वंशानुक्रमियों के काल में कोष की स्थिति अत्यन्त शिथिल पड़ गई थी। पंतजलि[258] के अनुसार मौर्यों को सोने की मूर्तियाँ भी बेचनी पड़ी थी। स्वयं अशोक द्वारा मुद्राओं के निर्माण से सस्ती धातु का प्रयोग कर कीमती धातु तथा राजकोष को कमजोर होने से बचाया गया था।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आपात स्थिति में राजा लोगों से प्रणय आदि साधनों से धन प्राप्त करता था। लेकिन यह धन लोगों की देने की सामर्थ्य को ध्यान में रखकर ही प्राप्त किया जाता था। इस प्रकार से प्राप्त किया गया धन लोगों के आरक्षण हेतु ही खर्च किया जाता था। अत्यन्त कठिनाई में ही ऐसे धनों को प्राप्त करने की अनुमति थी। वैसे अच्छे राजा को प्रणय, विष्टि आदि कर न लगाने की सलाह दी गई थी।[259]

करों से मुक्ति

मौर्य काल में यज्ञ करने वाले श्रोत्रिय ब्राह्मणों तथा दार्शनिकों को कर प्रदान करने में मुक्त रखा जाता था। आपस्तम्ब धर्मसूत्र[260] तथा वशिष्ठ–धर्मसूत्र ग्रन्थों[261] में भी उल्लेख है कि ब्राह्मणों को कर से मुक्त रखा जाए। अर्थशास्त्र[262] भी इस बात की पुष्टि करता है। वहॉ उल्लेख मिलता है कि राजकीय भूमि में से कुछ भूमि ऋत्विक, आचार्य, पुरोहित, श्रोत्रिय आदि को उनके निर्वाह के लिए प्रदान की जाती थी। ऐसी भूमि **ब्रह्मदेय** कहलाती थी। इस पर न कोई भूमि कर लिया जाता था और न ही किसी प्रकार के जुर्माने वसूल किये जाते थे।

अर्थशास्त्र में परिहारों, अर्थात् अनुदत्त गाँवों मे किसानों आदि को विभिन्न प्रकार के राजस्वों से दी गई छूतों के सम्बन्ध में जो विशद् व्यवस्था की गई है, उसका उद्देश्य ईस्वी सन् की प्रारम्भिक सदियों मे सातवाहनों तथा पल्लवों के अधीन प्रदान दिए गए परिहारों से सर्वथा भिन्न है, जहॉं इन परिहारों का उद्देश्य राजकोष की अभिवृद्धि करना था।

महाभारत[263] में भी ब्राह्मणों को कर से मुक्त किए जाने का उल्लेख मिलता है। यह सही है कि ब्राह्मण साहित्य में ब्राह्मणों को अन्य सब जातियों से सर्वोत्तम माना गया है।[264] लेकिन बौद्ध साहित्य में क्षत्रियों को ब्राह्मणों से प्राथमिकता प्रदान की गई थी।[265]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सम्पूर्ण ब्राह्मण जाति को करमुक्त न करके केवल उन विद्वान ब्राह्मणों को ही कर से छूट दी गई थी, जिनके पास तपस्या का धन होता था, जो वेदों के संरक्षण व प्रचार कार्य में लगे रहते थे, तथा जो राज्य को किसी भी आने वाली विपत्ति के प्रति जागरूक करते थे, जो राजा को जीवन, सम्पत्ति और राज्य की समृद्धि में योगदान दिया करते थे।

ऐसे अनेक उल्लेख है[266] जिनमें स्पष्ट कहा गया है कि अविद्वान ब्राह्मणों को भूमि दान अथवा अन्य प्रकार के उपहार न दिये जाये। महाभारत[267] में उल्लेख मिलता है कि वे ब्राह्मण श्रोत्रिय नहीं है, जो अपने धर्म के पालन करने में विफल हैं, राजा द्वारा अन्य लोगों के समान कर लगाये जाने योग्य है।

अर्थशास्त्र[269] धर्म का उल्लंघन करने वाले सन्यासी और ब्राह्मण पर दण्ड देने की ओर से भी संकेत करता है। मनु[270] के अनुसार भी यदि कोई ब्राह्मण जुए के व्यसन में पाया जाता था तो वह भी दण्ड का भागी होता था। केवल श्रोत्रिय पुरोहित, विद्वान ब्राह्मण ही कर मुक्ति के पात्र थे। संकटकाल के समय भी ऐसे लोगों की सम्पत्ति को अधिगृहीत नहीं किया जाता था।[271] और न ही ऐसे लोगो पर कोई कर लगाया जाता था।[272]

खारवेल के हाथीनुमा अभिलेख[273] में भी जनपदों को करमुक्त करने का उल्लेख मिलता है। अर्थशास्त्र274 से पता चलता है कि यदि कोई किसान नया तालाब बनवाता था या बाँध बनवाता था तो उसे पाँच साल के लिए भूमिकर से छूट दे दी जाती थी। टूटे हुए तालाब या बाँध की मरम्मत कराने वाले को चार साल के लिए भूमि कर से छूट प्रदान किए जाने की व्यवस्था थी।

तालाबों से काई आदि हटाकर उन्हें अच्छा बना देने वाला किसान तीन वर्ष के लिए कर से छूट पाता था। ऐसी व्यवस्थायें स्पष्ट बतलाती है कि उन्हीं किसानों को अनुग्रह प्रदान किया जाता था या कर मुक्त किया जाता था, जिनके कृतकार्यों से राज्य का भला होता था और अन्ततोगत्वा राजकोष में अभिवृद्धि के वे कारण बनते थे।

उपज बढिया हो इस दृष्टि से उत्कृष्ट प्रकार के बीजों को भी कर मुक्त रखा जाता था।[275] यदि फसल खराब उपजती थी तो किसानों को राहत देने के लिए भी उन्हें कर मुक्त कर दिया जाता था अथवा उनका भूमिकर स्थगित कर दिया जाता था।[276] समुद्र से क्षतिग्रस्त जलपोतों को भी पूर्ण शुल्क या अर्धशुल्क से मुक्त कर दिया जाता था।[277]

मौर्यकाल में जहाँ एक ओर समाज में अतिसम्भ्रान्त विशिष्ट लोगों का आदर किया जाता था, वहाँ साथ ही साथ समाज के निम्न वर्ग तथा लाचार लोगों पर मानवतावादी दृष्टिकोण भी रखा जाता था, इसीलिए सभी जाति की स्त्रियों, गुरुओं के साथ रहकर अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों, शूद्रों, अन्धों, गूँगों, बधिरों तथा रोगग्रस्त जनों को कर से मुक्त रखा जाता था।[278]

विशेष प्रयोजनों से बाहर ले जाए जाने वाले माल पर अथवा बाहर से आने वाले माल पर राज्य द्वारा शुल्क भी नहीं लिया जाता था। विवाह, उपनयन संस्कार, यज्ञ, सन्तान की प्रसव, देव मन्दिर व्रत दीक्षा आदि अवसरों पर राज्य की ओर से यह रियासत प्रदान की जाती थी।[279] देश की आवश्यकता को देखते हुए विदेशी माल को मंगवाने के लिए व्यापारियों को प्रोत्साहित किया जाता था, ताकि वे अधिक लाभ अर्जित कर सकें।280 वेदज्ञ ब्राह्मणों, तपस्वियों से नमक पर शुल्क प्राप्त नहीं किया जाता था।281 इस प्रकार उपर्युक्त शुल्क मुक्तियाँ मौर्यकालीन सुदृढ़ आर्थिक स्थिति को प्रदर्शित करती हैं।

कराधान का औचित्य

राजा को देश की रक्षा, बाहरी आक्रमणों से रक्षा, आन्तरिक विपदाओं से मुक्ति, प्रशासनिक व्यवस्था की स्थापना आदि के लिए धन की आवश्यकता होती थी, इसकी पूर्ति वह प्रजा द्वारा कर प्राप्त कर से करता था। अतः 'कर' वह भृति (वेतन) था, जिसे राजा, प्रजा से अपनी सेवाओं के बदले प्राप्त करता था। महाभारत में कर एवं जुर्मानों आदि के रूप में प्रजा से जो धन प्राप्त होता था, उसे राजा का वेतन कहा गया है।[282] कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी कर आदि को राजा का भागधेय बताया गया है।[283] रामायण[284] में यह विवेचन मिलता हे कि जो राजा आय का षड् भाग तो वसूल करते हैं, परन्तु बदले में उन्हें सुरक्षा प्रदान नहीं करते, वे पाप के भागी होते हैं। मनु का भी मानना है कि प्रजा की सुरक्षा प्रदान किए बिना जो राजा लोगों से कर आदि प्राप्त करते हैं वे नरक में जाते हैं।[285] महाभारत में यह भी उल्लेख मिलता है कि लोगों की सुरक्षा किए बिना जो राजा कर वसूल करता है वह पापों को प्राप्त करता है[286] तथा ऐसे राजा चोर होते हैं।[287]

इस प्रकार स्पष्ट है कि कर में प्रजा की सुरक्षा का भाव निहित होता था। यह एक प्रकार का सामाजिक समझौता था, जिसके अन्तर्गत राजा तथा प्रजा दो पक्ष अधिकारों और कर्त्तव्यों के सम्बन्धों से परस्पर बँधे होते थे। कौटिल्य[288] और मनु[289] उन शासकों की भर्त्सना करते हैं जो प्रजा को सुरक्षा प्रदान न करके वे अपने कर्त्तव्य, उत्तरदायित्व का निर्वाह नहीं करते। जहाँ मनु[290] ऐसे शासकों को दण्डित करने की सलाह देता है वही महाभारत[291] में उनका परित्याग या पागल कुत्ते के समान वध करने की बात करता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रजा द्वारा राजा को कर प्रदान किया जाता था और बदले में राजा प्रजापालन व सुरक्षा आदि कार्यों को सम्पादित करता था।

कर भुगतान

मौर्ययुगीन स्रोतों के आधार पर यह स्पष्ट है कि मौर्ययुग में करों की वसूली जिन्स एवं मुद्रा दोनों रूपी में की जाती थी। भूमि कर प्रायः जिन्स के रूप में वसूल किया जाता था। नीति–ग्रन्थों में इसे **षड्भाग** कहा गया है। भूमि की पैदावार का छठा अंश ही राजा को भूमिकर के रूप में प्राप्त होता था। विशेष परिस्थितियों में इस कर की दर घटाई–बढाई जा सकती थी।[292] कौटिल्य के अर्थशास्त्र[293] के अनुसार भूमि की दशा और सिंचाई के साधनों को ध्यान में रखकर भूमिकर की दर को निर्धारित किया जाता था।

मनुस्मृति[294] में भूमिकर की दर 1/6, 1/8 व 1/12 बतलाई गई है, लेकिन साधारणतया भूमि से उपज का छठा अंश ही भूमिकर के रूप में वसूल किया जाता था।

अशोक के अभिलेख[295] में अष्टभगिये (अष्टभागिका) का उल्लेख उपज के आठवें भाग का द्योतक है, जो जिन्स के रूप में वसूल किया जाता था।

मौर्यकाल में अनाज रखने के लिए बड़े–बड़े राजकीय अनाज–भण्डारों, (कोष्ठागृहों) का उल्लेख[296] मिलता है, जिससे यह सम्भावना व्यक्त की जाती है कि भूमिकर जिन्स के रूप में वसूल किया जाता था।

अर्थशास्त्र297 में कर भुगतान के अन्य साधनों के भी उल्लेख मिलते हैं। अनाज के अतिरिक्त मुद्रा, पशु, कच्चा माल और विष्टि आदि भी भुगतान के साधन थे।

अर्थशास्त्र[298] में कई स्थानों पर स्पष्ट रूप से उपज का अमुक–अमुक भाग (जो भूमि की दशा और सिंचाई के साधनों पर निर्भर करता था) कृषकों द्वारा राज्य को प्रदान किए जाने की बात कहीं गई है। राज्य द्वारा अनाज का स्वयं क्रय–विक्रय करना तथा अनाज को तौलने व नापने के साधनों जैसे धारक और मापक आदि शब्दों के उल्लेख[299] स्पष्ट रूप से यही संकेत करते हैं कि राज्य, भूमि से अपने भाग को अनाज के रूप में ही प्राप्त करता था। महाभारत300 कोष को धान्य से परिपूर्ण करने की बात कहता है। राज्य के भाग को प्राप्त करने वाले राज्य के अधिकारी के लिए प्रयुक्त द्रोण–मापक शब्द स्वयं अपने अर्थ से ही इस बात की पुष्टि करता है कि अनाज करों द्रोणों (अनाज मापने का पात्र) से भर–भरकर लिया जाता था। मौर्यकाल में करों जिन्स में भुगतान के अतिरिक्त मुद्रा में भी भुगतान करने की व्यवस्था थी। **खारवेल के हाथीगुम्फा अभिलेख** में कई हजार पणों के शुल्क (शुल्क का भुगतान प्रायः मुद्रा में ही होता था, शुल्क पण्यों के मूल्य पर लिया जाता था) की बात कही है, जिसे माफ कर दिया गया था। उसकाल में प्रयुक्त करवण[301] (संस्कृत में करपण अथवा करपण्य) और कर के रूप में हिरण्य शब्दों के अर्थ स्पष्टरूपेण मुद्रा के कर–भुगतान को ही दर्शाते हैं।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि मौर्यकाल में मुद्रा और जिन्स दोनों रूपों में कर भुगतान होता था। भूमिकर अधिकतर जिन्स में ही अदा किया जाता था, सम्भवतः वर्ष में दो बार उपज के आधार302 पर और अन्य शुल्क आदि नकदी में ही भुगतान किये जाते थे। भूमिकर कुल उपज पर लिया जाता था न कि खर्चे आदि निकालने के उपरान्त लाभ पर। अर्थशास्त्र में धानय षडभाग[303] इस तथ्य को परिपुष्ट करता है।

मौर्यकाल में राजस्व को संग्रह करने के लिए बड़े पैमाने पर व्यवस्था एवं प्रबन्ध तन्त्र का विस्तार किया गया। अनेक अधिकारियों और कर्मचारियों की नियुक्ति के कारण राजस्व विभाग में बेईमानी एवं भ्रष्टाचार बढ़ा। **अर्थशास्त्र में लिखा है** कि जैसे पानी में घूमती तैरती मछलियाँ कब पानी पीती है, पता नहीं चलता उसी प्रकार सरकारी कर्मचारी कब और किस प्रकार धन खा जाते हैं, पता नहीं चलता।[304] राजकीय सम्पदा के अपहरण से राजकोश को घुण माना जाता है, इस बात से चिन्तित होकर ही तत्कालीन शासन कर्मचारियों और अधिकारियों पर कड़ी नजर रखता था।

राजकीय व्यय के साधन

मौर्ययुगीन राजकीय व्यय के सम्बन्ध में कौटिल्य के अर्थशास्त्र में हमें जानकारी मिलती है। कौटिल्य ने राजकीय व्यय[305] को व्यय–शरीर कहा है, जिसका विवेचन निम्न 22 अवयवों में दिया गाय है –

(1) **देवपूजा** – श्रोत्रिय, आचार्य आदि विद्वानों की पूजा (आजीविका के लिए) पर किया जाने वाला व्ययः

(2) **पितृ पूजा** – राज्य में आदरणीय सज्जनों, पुराने सेवकों और वृद्धों आदि के स्वागत–सत्कार तथा निर्वाह आदि के लिए किया जाने वाला व्यय

(3) शिक्षा, चिकित्सा, दान, अनुग्रह तथा अनाथों, विधवाओं और अपाहिजों आदि के लिए नियमित सुव्यवस्था करने के लिए किया जाने वाला व्यय।

(4) **सवस्तिवाचन** – धार्मिक क्रियाकलापों और अनुष्ठानों पर किया जाने वाला व्यय।

(5) **अन्तःपुर** – राजभवन के निर्माण, उसकी व्यवस्था एवं देखभाल तथा सम्बन्धित रक्षकों, कर्मचारियों तथा वैधादि पर होने वाला व्यय।

(6) **महानस** – राजकीय–भोजनालय पर होने वाला व्यय

(7) **दूतप्रावर्तिमम्** – विदेशों से सम्बन्ध रखने में राजदूतों, गुप्तचरों आदि पर होने वाला व्यय।

(8) **कोष्ठागार** – सम्बन्धित विभाग में विशेषज्ञों, कर्मचारियों तथा व्यवस्था आदि पर होने वाला व्यय।

(9) **आयुधागार** – सम्बन्धित विभाग में कारखानों, संग्रहालयों, विशेषज्ञों, कर्मचारियों आदि पर होने वाला व्यय।

(10) **पण्यगृह** – प्रजा के लिए सामान के क्रय, विक्रय आदि पर होने वाला व्यय।

(11) **कृप्यगृह** – सम्बन्धित विभाग के कारखानों पर तथा विभाग के अधीनस्थ कर्मचारियों आदि पर होने वाला व्यय।

(12) **कर्मान्त** – राजकीय कारखानों एवं व्यवसाय आदि पर होने वाला व्यय।

(13) **विष्टि** – बेगार लिए जाने पर मजदूरों आदि पर होने वाला व्यय।

(14) **पत्ति** – दानि सेना पर होने वाला व्यय।

(15) **अश्वपरिग्रह** – घुड़सवार सेना पर होने वाला व्यय।

(16) **द्विपपरिग्रह** – हस्ति सेना पर होने वाला व्यय।

(17) **गौमण्डल** – सेना के माल को ढ़ोने में प्रयुक्त बैलों आदि पर होने वाला व्यय।

(18) **पशुवाट** – पशुओं के बाड़े पर होने वाला व्यय।

(19) **पक्षिवाट** – पक्षियों के बाड़े पर होने वाला व्यय।

(20) **व्यालवाट** – साँपों के बाड़े पर होने वाला व्यय।

(21) **काष्टवाट** – काष्ट के भण्डारण पर होने वाला व्यय।

(22) **तृणवाट** – तृण के भण्डार पर होने वाला व्यय।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में व्यय सम्बन्धी सामग्री विभिन्न स्थलों पर बिखरी हुई है। अतः मौर्ययुगीन व्यय के साधनों का विवेचन निम्न प्रकार से किया जाना समीचीन प्रंतीत होता है।

(1) **प्रशासनिक व्यय** – मौर्य शासकों ने सर्वप्रथम एक कुशल प्रशासनिक व्यवस्था का गठन किया। प्रशासनिक व्यवस्था को सुचारू रूप से संचालित करने के लिए विभिन्न अधिकारी गणों की नियुक्ति की जाती थी। कौटिल्य इन्हें महामात्य[306] की संज्ञा देता है, जो निम्न थे – मन्त्री, पुरोहित, सेनापति, युवराज, दौवारिक, आन्तर्वेशिक, प्रशास्ता, समाहर्ता, सन्निधाता, प्रदेष्टा, नायक, पौर, व्यावहारिक, कर्मान्तिक, सभ्य, दण्डपाल, अन्तपाल एवं दुर्गपाल।

उपर्युक्त अधिकारीगण तीन श्रेणियों में विभाजित थे –

(अ) प्रथम श्रेणी के अधिकारी जिनमें मन्त्री, पुरोहित, सेनापति और युवराज सम्मिलित होते थे, को 48,000 पण वार्षिक वेतन मिलता था

(ब) द्वितीय श्रेणी के अधिकारी, जिनमें दौवारिक, अन्तर्वेशिक, प्रशास्ता, समाहर्ता और सन्निधाता सम्मिलित होते थे, को 24000 पण वार्षिक वेतन मिलता था।

(स) तृतीय श्रेणी के अधिकारी जिनमें प्रदेष्टा, नायक, पौर व्यावहारिक, कार्मान्तिक, सभ्य, दण्डपाल, दुर्गपाल तथा अन्तपाल सम्मिलित होते थे, को 12,000 पण वार्षिक वेतन मिलता था।

(अ) **राजकीय कर्मचारियों के वेतन पर व्यय** – नयी बस्तियों (जनपद निवेश) से सम्बन्धित कुछ अधिकारीयों को छोड़कर राज्य के समस्त राज कर्मचारियों को मौर्यकाल में नकद वेतन दिया जाता था। श्री शामशास्त्री[307] और प्रो. ब्रजनारायण[308] के अनुसार कौटिल्य ने जिन कर्मचारियों के वेतन का उल्लेख किया है, वे वार्षिक थे, जिसका विवेचन इस प्रकार है –

(1) ऋत्विक, आचार्य, पुरोहित, सेनापति, युवराज, राजमाता, राजमहिषी (पटरानी) आदि में से प्रत्येक को 48,000 पण वार्षिक वेतन दिया जाता था।[309]

(2) दौवारिक, आन्तर्वेशिक, प्रशस्ता, समाहर्ता और सन्निघाता में से प्रत्येक को 24000 पण वार्षिक दिया जाता था।[310]

(3) कुमार कुमारमाता, नायक, पौर, व्यवहारिक, मन्त्रिपरिषद् के सदस्य, राष्ट्रपाल और अन्तपाल में से प्रत्येक के लिए 12,000 पण वार्षिक वेतन दिया जाता था।[311]

(4) श्रेणीमुख, हस्तिमुख, अश्वमुख, और प्रदेष्टाओं के लिए 8000 पण वार्षिक वेतन दिया जाता था।

(5) सैनिक, रथिकों, सैनिक चिकित्सकों, अयवदमकों, वर्धाकि (बढ़ई) और योनिपोषकों (पशुओं को पालने और प्रशिक्षित करने वालों) के लिए 2000 पण वार्षिक वेतन दिया जाता था।[312]

(6) पत्याध्यक्ष (दाति सेना का अध्यक्ष), अश्वाध्यक्ष, हस्तयाध्यक्ष, द्रव्यपाल, हस्तिपाल और वनपाल के लिए 4000 पण वार्षिक वेतन दिया जाता था।[313]

(7) कार्मान्तिकों (ज्योतिषियों), नैमित्तिकों (शुभाशुभ फल बताने वाला), मौहूर्तिकों (मुहूर्त बताने वाला), पौराणिकों (पुराण वृत्त बताने वाला), सूतो (पुरातन अनुश्रुति के प्रवचकों), मागधों (पुराने गीतों को कहने वाला), पुरोहित–पुरुषों और सब अध्यक्षों के लिए 1000 पण वार्षिक वेतन दिया जाता था।

(8) कार्ययुक्तों, आरोहकों, शैलखनकों और राजपुरुषों के सहायकों के वेतन की दर 500 से 1000 पण वार्षिक के मध्य थी।

(9) आचार्यों, औश्र विद्वानों का भी पूजा वेतन 500 पण वार्षिक तक था।

(10) उदास्थित, गृहपतिक, वैदेहक, तापस आदि के भेस में कार्य करने वाले गुप्तचरों को कापटिक, उदास्थित, गृहपतिक, वैदेहक, तापस आदि के भेस में कार्य करने वाले गुप्तचरों को 1000 पण वार्षिक वेतन दिया जाता था।

(11) ग्रामभृतक, तीक्ष्ण, रसद और भिक्षुकों के रूप में कार्य करने वाले गुप्तचरों को 500 पण वार्षिक दिया जाता था।

(12) प्रशिक्षित पदाति–सैनिकों, संख्यायकों (हिसाब रखने वाले), लेखकों और तुर्यकरों आदि को 500 पण वार्षिक वेतन दिया जाता था।

(13) गुप्तचरों के सन्देशवाहकों को 300 पण वार्षिक वेतन दिया जाता था।

(14) कुशीलवों को 250 पण वार्षिक वेतन

(15) कारूओं और शिल्पियों को 120 पण वार्षिक वेतन

(16) चतुष्पदों और द्विपदों के परिचारकों, परिकर्मिकों, उपस्थयिकों (अर्दलियों), पालकों (सेवकों) और विष्टिबन्धकों का 60 पण वार्षिक वेतन दिये जाने की व्यवस्था थी।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अनुसार मन्त्री, सेनापति आदि राजपुरुषों की वेतन दरें अत्यधिक ज्यादा थी। कौटिल्य के अनुसार उच्च वेतन होने से ये लोग अपने कार्य को भली भाँति सम्पन्न करते होंगे और अपने राजा के प्रति अनुरक्त होते होंगे तथा साथ ही उसके प्रबन्ध में भी सहायक सिद्ध होते होंगे।

कौटिल्य के अनुसार छोटे कर्मचारियों को 5 पण मासिक न्यूनतम वेतन मिलता था, जो अधिकतम वेतन की तुलना में बहुत कम था, लेकिन इससे इतना अवश्यक सूचित होता है कि यह सस्ते का जमाना था और 5 पण मासिक प्राप्त करने वाला कर्मचारी भी अपना निर्वाह कर सकता था।

कौटिल्य[314] के अनुसार निजी क्षेत्र में बगीचों और खेतों पर काम करने वाले मजदूरों को सवा पण मासिक वेतन दिये जाने का विधान था, इससे यह अन्दाजा लगाया जा सकता है कि सवा पण मासिक पर एक मजदूर का निर्वाह हो सकता था, तो निम्न स्तरीय राजकीय कर्मचारी का पाँच पण मासिक वेतन कम नहीं कहा जा सकता था।

(ब) राज कर्मचारियों की पेन्शन पर व्यय

कौटिल्य के अनुसार यदि कार्य करते समय किसी कर्मचारी की मृत्यु हो जाती थी तो भरण–पोषण के लिए उसकी पत्नी या सन्तान को वेतन दिया जाता था। उसके बालकों, वृद्धों और बीमार परिजनों पर विशेष अनुग्रह रखा जाता था और विशेष अवसरों पर उन्हें आर्थिक सहायता दी जाती थी[315] उस पर राज्य का व्यय होता था।

(स) राजकीय आवास पर व्यय

कौटिल्य[316] के अनुसार प्रमुख विभागाध्यक्षों को राजभवन के समीप आवास की सुविधा प्रदान की जाती थी, जिस पर सरकारी व्यय होता था।

(द) यात्रा भत्ता एवं दैनिक यात्रा भत्ता पर व्यय

कौटिल्य ने राज्य कर्मचारियों को वेतन के अनुरूप भत्ता प्रदान करने का उल्लेख किया है। सामान्यतया 60 पण वार्षिक वेतन पाने वालों को एक आढ़क भर (लगभग तीन किलो) अन्न दिया जाता था।[317] आढ़क 3200 पण के बराबर होता था। यदि किसी दूत को किसी विशेष कार्यवश बाहर भेजा जाता था तो उसे पारिश्रमिक प्रदान किया जाता था, जिसकी दर 10 पण प्रति योजना थी। लेकिन यदि उसका गन्तव्य 10 योजन से 100 योजन तक होता था, तो पारिश्रमिक की दर दुगुनी हो जाती थी।[118]

कौटिल्य के अनुसार वेतन सम्बन्धी खर्च कुल राजस्व के 1/4 भाग से अधिक नहीं होना चाहिए और ऐसा कोई कार्य नहीं जाना चाहिए जो धर्मानुकूल न हो।[319]

मौर्यकाल में राजकीय कर्मचारियों के अतिरिक्त मजदूरों तथा किसानों से बेगार भी ली जाती थी, जिसे विष्टि कहते थे। इसे व्यय में सम्मिलित किया जाता था। विष्टि को प्राप्त करने के लिए भी राजकोष से व्यय करना पड़ता था।

(2) सुरक्षा सम्बन्धी व्यय

मौर्य शासकों ने राज्य की आन्तरिक एवं बाह्य सुरक्षा के लिए एक विशाल सेना का गठन किया। कौटिल्य ने चतुरागणी सेना के साथ–साथ जल सेना का भी उल्लेख किया है, जिसका मुख्य उद्देश्य चोर–डाकुओं की नौकाओं को नष्ट करना, सेना व सैन्य सामग्री और गुप्तचरों को अन्य स्थानों पर पहुँचाना तथा अन्य रक्षात्मक कार्यों को करना था।[320]

सैनिक शिविर, सैनिक मार्ग, नदी के पुल, बाँध आदि का निर्माण तथा अन्य युद्धोपयोगी सामानों को पहुँचाने आदि के लिए सेना का निर्माण विभाग भी था।[321] सेना में स्वास्थ्य विभाग भी था जो उपचार–सामग्री से युक्त चिकित्सकों तथा सेविकाओं की आवश्यक सेवाएें प्रदान करता था।[322] मौल (राजधानी की रक्षा करने वाली), भुतक (वैतनिक), श्रेणी, आटविक आदि सेनाओं के भी कई प्रकार थे[323], सेना का सर्वोपरि सेनापति होता था, जिसके अधीन सेना के विभिन्न अंगों का प्रबन्ध करने को लिए पत्याध्यक्ष, रक्षाध्यक्ष, अश्वाध्यक्ष, हस्ताध्यक्ष और नावाध्यक्ष थे।[324] युद्ध संचालन में भी अनेक कर्मचारियों का योगदान होता था, जिनमें पदिक, सहसेनापति और नायक, नामक अधिकारी विशेष उल्लेखनीय है।[325] शत्रुओं का पता लगाने और उनके भेदों को जानने के लिए भी गुप्तचर विभागों में अनेक पता लगाने और उनके भेदों को जानने के लिए भी गुप्तचर विभागों में अनेक कर्मचारी कार्यरत थे।[326] सेना में गधों एवं ऊँटों का भी पर्याप्त उपयोग होता था।[327]

इस प्रकार स्पष्ट है कि मौर्यकाल में एक विशाल सेना थी, जिस पर राजस्व का बहुत बड़ा हिस्सा, खर्च होता था। कौटिल्य के अनुसार विभिन्न पदाधिकारियों के वेतन निम्न प्रकार थे –

1. सेनापति का वेतन – 48,000 पण वार्षिक
2. आन्तर्वेशिक का वेतन – 24,000 पण वार्षिक
3. नायक का वेतन – 12,000 पण वार्षिक
4. अन्तपाल का वेतन – 12,000 पण वार्षिक
5. हस्तिमुख्य/स्थमुख्य/अश्वमुख्य का वेतन – 8,000 पण वार्षिक
6. पत्याध्यक्ष, अश्वाध्यक्ष, स्थाध्यक्ष, हस्त्याध्यक्ष, हस्तिपाल का वेतन – 4,000 पण वार्षिक

राधाकुमुद मुखर्जी[328] के अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य की सेना में 6,00,000 पदाति, 30,000 अश्वारोही, 9,000 हाथी तथा 8,000 रथ थे। कौटिल्य ने इन सैनिकों के वेतन की दर निम्नवत दी है –

1. पदाति का वेतन – 500 पण वार्षिक
2. रथिकों का वेतन – 2,000 पण वार्षिक
3. गजारोहक का वेतन – 500 से 1000 पण तक वार्षिक
4. अश्वरोही का वेतन – 500 से 1000 पण तक वार्षिक

यदि गजारोहक और अश्वारोहक सैनिक का वेतन मध्यस्थ भाग की 750 पण वार्षिक मान लिया जाए तो मौर्य काल में सैनिकों पर व्यय की जाने वाली धन राशि का अनुभाग निम्न प्रकार से लगाया जा सकता है –

1. पदाति सैनिकों पर 600000 x 500 = 30,00,00,000 पण वार्षिक
2. अश्वारोहक सैनिकों पर 300000 x 750 = 2,25,00,000 पण वार्षिक
3. गजारोहक सैनिकों पर 9000 x 750 = 67,50,00,000 पण वार्षिक
4. रथिक सैनिकों पर 8,000 x 2000 = 1,60,00,00,000 पण वार्षिक

कुल व्यय =34,52,50,000 पण वार्षिक

इस प्रकार मौर्यकाल में सैनिकों पर व्यय लगभग 35 करोड़ पण वार्षिक होता था। इसमें यदि पदाधिकारियों का वेतन जोड़ दिया जाए, जिनकी संख्या की जानकारी उपलब्ध नहीं है, तो यह व्यय लगभग 40 करोड़ से ऊपर जाता है। वेतन के अतिरिक्त सैनिकों की चिकित्सा व्यय, रसद सामग्री, वाहन, आधुधों आदि पर भी खर्च होता था। इस प्रकार स्पष्ट है कि मौर्य काल में सुरक्षा पर काफी धन खर्च किया जाता था।

3. राजा का निजी व्यय

मौर्यकाल में राजा का राजप्रासाद बहुत शानदार एवं विशाल होता था, अर्थशास्त्र[329] के अनुसार अनुसार यह राजधानी के 9वें भाग को घेरता था। मौर्य शासक अन्तःपुर में बहुत शान से रहता था। राजा की सेवा के लिए सैकड़ो दौवारिक, सेवक, सेविकायें और कर्मचारी रहते थे, जिन पर अत्यधिक खर्च होता था।

राजा के रसोईघर (महानस), बूचड़ खाना आदि पर बहुत अधिक खर्च होता था, इसलिए कौटिल्य ने व्यय शरीर में उसका पृथक् से उल्लेख किया हैं।[320] राजा के परिवार के विविध व्यक्तियों को राजकोष से वेतन दिया जाता था। इसकी दर भी बहुत अधिक थी। जैसे युवराज, राजमाता और राजमहिषों को 48,000 पण वार्षिक दिया जाता था।

4. सार्वजनिक कार्यों पर व्यय

मौर्य साम्राज्य लोक कल्याणकारी था। इसमें प्रजा के हितों के लिए अनेक सामाजिक एवं विकासात्मक कार्य किये जाते थे, जिन पर भी राज्य का व्यय होता था – यह व्यय निम्न मदों पर होता था।

(क) शिक्षा पर व्यय – कौटिल्य के अर्थशास्त्र में व्यय–शरीर के अन्तर्गत देवपूजा का उल्लेख किया है। इस देव पूजा से आशय उस व्यय से था, जो राज्य आचार्य, श्रोत्रिय आदि अध्यापक वर्ग को प्रदान करता था। ऐसा प्रतीत होता है कि अनेक शिक्षणालयों का संचालन राज्य की ओर से होता था, इसीलिए कौटिल्य ने यह व्यवस्था की है कि आदेश दिये जाने पर भी जो आचार्य शूद्र को शिक्षा देने से मना करे, वह दण्डनीय है।

कौटिलय331 ने अध्यापक वर्ग का वेतन 500 पण से 1000 पण वार्षिक तक निर्धारित किया है। इस काल में शिक्षा का कार्य उन आचार्यों और श्रोत्रियों के हाथों में था, जिनके निर्वाह के लिए राज्य की ओर से भूमि प्रदान की जाती थी। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में उल्लेख मिलता है कि ऋत्विक, आचार्य, पुरोहित और श्रोत्रियों को इतनी ब्रह्मदेय भूमि प्रदान की जाये, जिससे **'अभिरूप' आमदन** की प्राप्ति हो जाती हो। इसके अतिरिक्त यह भी उल्लेख मिलता है कि ऐसी भूमि से किसी प्रकार का कर वसूल न किया जाए।[332]

(ख) जरूरतमन्द नागरिकों की सहायतार्थ व्यय

मौर्य साम्राज्य लोक कल्याणकारी था। इस काल में बालक, वृद्ध, व्याधि–पीड़ित, आपत्तिग्रस्त, अनाथों आदि व्यक्तियों के भरण–पोषण के लिए राज्य की ओर से सहायता दी जाती थी।[333]

गर्भवती स्त्रियों और उनकी सन्तान के भरण–पोषण पर ध्यान देना भी राज्य का कर्त्तव्य माना जाता था।[334] अवकाश प्राप्त राजकीय कर्मचारियों के निर्वाह के लिए उन्हें पेन्शन दी जाती थी, तथा सेवाकाल में राजकीय कर्मचारियों की मृत्यु हो जाने की स्थिति में पारिवारिक पेन्शन का भी प्रावधान था, जिससे की उनके परिवार के सदस्यों का भरण–पोषण होता रहे।

असहाय वृद्धजनों को भी सहायता दी जाती थी, जिसका उल्लेख कौटिल्य ने व्यय शरीर के अन्तर्गत पितृपूजा में किया है।

समाज में देव मन्दिरों और तीर्थस्थानों आदि के निर्माण में पूर्ण व्यय राज्य को वहन करना पड़ता था।[335] कृषकों को धान्य, पशु, हिरण्य आदि के रूप में राज्य द्वारा आर्थिक सहायता दी जाती थी।[336] राज्य लोगों की भलाई के लिए सेतु एवं मार्ग बनवाता था। राज्य की ओर से इन कार्यों के सम्पादन करने में आर्थिक सहयोग दिया जाता था।[337] राज्य द्वारा कारूओं और शिल्पियों को भी आर्थिक सहायता दी जाती थी।[338]

इस प्रकार सामाजिक उत्तरदायित्वो के निर्वहन में राज्य का व्यय होता है।

(ग) सार्वजनिक आमोद–प्रमोद पर व्यय

मौर्यकाल में जनता के मनोरंजन के लिए अनेक पुण्य–स्थानों, उद्यानों, चिड़ियाघरों आदि निर्माण राज्य द्वारा किया जाता था। कौटिल्य ने व्यय शरीर के अन्तर्गत पशुवाट, पक्षिवाट और व्यालवाट का उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त पुष्पवाट और फलवाट आदि की व्यवस्था किये जाने का भी उल्लेख किया है।[340] लोगों के भ्रमण के लिए आरामों (पार्कों) का निर्माण भी किया जाता था।[341] इन सबका निर्माण एवं रख–रखाव राज्य की ओर से किया जाता था।

(घ) धर्मप्रचार एवं धार्मिक अनुष्ठानों पर व्यय

मौर्यकाल में धर्मप्रचार एवं धार्मिक अनुष्ठानों से सम्बन्धित अनेक कार्य किये गये। मौर्य सम्राट अशोक के देहली टोपरा अभिलेख[342] से जानकारी मिलती है कि उसने मनुष्यों एवं पशुओं के लिए छायादार वृक्ष लगवाए। आम्रवाटिकाएँ लगवाई। आधे–आधे कोस पर उद्यमान (कुएँ) खुदवाये गए। धर्मशालाएँ, प्याऊँ खुदवाई। छायादार वृक्ष लगवाएँ। अशोक ने मनुष्यों और पशुओं की चिकित्सा की भी व्यवस्था करवायी। अशोक की धर्मनीति का अनुसरण भविष्य में भी होता रहे, उसका धर्म सन्देश स्थायी बना रहे, इस उद्देश्य से उसने धर्मलिपियों को विभिन्न स्थानों पर प्रस्तर–शिलाओं, गुहाभित्तियों और स्तम्भों पर उत्कीर्ण करवाया। उसने बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए धर्म प्रचारक अनेक स्थानों पर भेजे। इस काल में कला की विविध विधाओं, मूर्तिकाला, स्थाप्त्य कला, गुहानिर्माण कला का विकास हुआ। स्वाभाविक है कि राजस्व का कुछ भाग इन कार्यों पर भी व्यय होता होगा।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अनुसार मौर्यकाल में प्राकृतिक प्रकोपों से बचने के लिए राज्य की ओर से अनेक धार्मिक अनुष्ठान किये जाते थे।[343] बाढ़ से बचने के लिए नदियों की पूजा[344], अनावृष्टि के निवारण के लिए इन्द्र, गंगा, पर्वत और महाकच्छप की पूजा[345] महामारी की शान्ति के लिए गोदोहन आदि ऐसे अनेकविध अनुष्ठानों[346] का प्रतिपादन अर्थशास्त्र में किया गया है।

(ड) चिकित्सा और स्वास्थ्य रक्षा पर व्यय

मौर्यकाल में चिकित्सा एवं स्वास्थ्य की समुचित व्यवस्था थी। नगर से विशिष्ट स्थानों पर भैषज्यागार स्थापित थे, जहाँ सर्वसाधारण जनता तक को आवश्यक दवाईयाँ बेची जाती थी।347 इसके अतिरिक्त इस समय अनेक चिकित्सकों का उल्लेख मिलता है, जैसे –

(1) भिषक[348] – औषधियों के विशेषज्ञ को भिक्षक कहा जाता था। यह पाचकों और पोषकों द्वारा दवाईयों का निर्माण करवाता था। औषधियों के निर्माता को पाचक कहा जाता था, जबकि औषधियों की शुद्धता को प्रमाणित करने वाले को पोषक कहा जाता था।

(2) जाडंगलीविद[349] – यह विष विशेषज्ञ था तथा विषों के द्वारा चिकित्सा करता था।

(3) **गर्भव्याधिवैध**[350] – यह गर्भ के रोगों की चिकित्सा करता था।

(4) **सूतिका चिकित्सा**[351] – यह सूतिका सम्बन्धी रोगों की चिकित्सा करता था।

(5) **गर्भव्याधिसंख्या**[352] – गर्भ व्याधि वैद्य की सहायतार्थ नियुक्त स्त्रियों को कहा जाता था।

(6) **चिकित्सक**[353] – शल्य क्रिया करने वाले को चिकित्सक कहा जाता था।

(6) **पशुचिकित्सक**[354] – पशुओं की चिकित्सा करने वाले को कहा जाता था।

मौर्यकाल में चिकित्सा सेवा के प्रति राज्य पूर्ण जागरूक था और चिकित्सकों को उनकी असावधानी के लिए दण्ड दिये जाने की भी व्यवस्था थी।[355] इस काल में औषधियों के निर्माण में प्रयुक्त होने वाली वनस्पतियों का उत्पादन भी राज्य द्वारा किया जाता था।[356] महामारी के निवारण का प्रयत्न करने के लिए औषधियों के साथ–साथ शान्ति उपायों को भी प्रयोग में लाया जाता था।[357]

मौर्यकाल में स्वास्थ्य रक्षा पर भी पूरा ध्यान दिया जाता था। खाने वाली वस्तुओं और औषधियों में मिलावट करने पर दण्ड दिया जाता था।[358] गन्दगी फैलाने पर दण्डित किया जाता था।[359]

इस प्रकार इस काल में स्वास्थ्य चिकित्सा पर भी राज्य द्वारा व्यय किया जाता था।

(च) सिंचाई एवं जल व्यवस्था पर व्यय

मौर्यकाल में राज्य की ओर से सिंचाई के लिए बाँधों का निर्माण करवाया जाता था। जो–जो व्यक्ति तटाकों आदि पर अपनी ओर बाँध बनवाकर सिंचाई की व्यवस्था करते थे, उन्हें राजकीय सहायता प्रदान की जाती थी। नया बाँध बनाने की स्थिति में 5 वर्ष के लिए, टूटे बाँध की मरम्मत कराने पर 4 वर्ष के लिए, और बाँध को समुन्नत करने की दशा में तीन वर्ष के लिए राज्य से करों में छूट मिल जाती थी।[360] इस प्रकार मौर्यकाल में एक ओर राज्य स्वयं बाँधों का निर्माण कर सिंचाई की व्यवस्था करता था।[361] वही दूसरी ओर व्यक्तिगत प्रयासों को भी राज्य प्रोत्साहन देता था। इस कार्य के लिए राजस्व का एक अंश व्यय होता था।

(छ) राजमार्गों के निर्माण पर व्यय

मौर्यकाल में अनेक स्थल एवं जल मार्गों का निर्माण हुआ। कौटिल्य के अर्थशास्त्र[362] में राष्ट्रपथ, स्थानीय–पथ, द्रोणमुख, विवीत–पथ, सेतुपथ, वनपथ, हस्तिक्षेत्रपाल महापशुपथ, क्षुद्रपशुपथ, मनुष्य पथ, श्मशान पथ, ग्राम पथ, सयोनीय पथ[363] रथ पथ[364] देवपथ आदि अनेक पथों का उल्लेख मिलता है। इन पथों के निर्माण एवं मरम्मत पर राज्य द्वारा व्यय किया जाता था, इसके अतिरिक्त जो लोग इन पथों के निर्माण में सहयोग देते थे, उन्हें करों में छूट देकर राज्य प्रोत्साहन देता था।

5. लाभार्थ व्यय

मौर्यकाल में विभिन्न उद्योगों और व्यवसायों पर राज्य का पूर्ण नियन्त्रण था तथा वे राज्य द्वारा संचालित होते थे, उनके संचालन में राज्य का पर्याप्त धन व्यय होता था। इन उद्योगों एवं व्यवसायों पर खर्च करके लाभार्जन के प्रयास किये जाते थे।

राजस्व प्रशासन

मौर्यकाल में शासन की सुविधा के लिए केन्द्रिय शासन अठारह विभागों में बंटा हुआ था, जिनकों **तीर्थ** कहते थे। प्रत्येक विभाग का एक सर्वोच्च पदाधिकारी होता था, जिसे अमात्य कहते थे। इन अमात्यों में से दो अमात्यों का सम्बन्ध राजस्व प्रशासन से था।

ये इस प्रकार हैं – **(1) समाहर्ता (राजस्व मन्त्री)** – यह राज्य का अत्यन्त महत्वपूर्ण व्यक्ति था। राजकीय करों को एकत्रित करना इसका सबसे प्रमुख कार्य था। मौर्य शासन व्यवस्था में सामान्य प्रशासन विभाग भी इसी के अधीन कार्य करता था। आय–व्यय तथा सामान्य प्रशासन में दोनों विभागों के राज्य–कार्य का संचालन इसी से कुशल निर्देशन में होता था। **इसकी तुलना वर्तमान में कलेक्टर जनरल से की जा सकती है।**

मौर्यकाल में जनपदों के शासन के लिए भी जिन राजपुरूषों को नियुक्त किया जाता था, वे **समाहर्ता** कहलाते थे, क्योकि समस्त जनपद के करों का संग्रह करने का उत्तरदायित्व इन्हीं का होता था। इनके अधिकार वर्तमान में कलेक्टर तथा मजिस्ट्रेट दोनों के समकक्ष थे।

समाहर्ता राजकीय आय तथा व्यय की व्यवस्था भी करता था। आय के साधनों तथा व्यय के स्थानों का निरीक्षण करने के उपरान्त उसे यह जानना होता था कि आय कितनी है, व्यय कितना है तथा विशुद्ध आमदनी (नीवी) कितनी है। समाहर्ता को यह भी देखना होता था कि कौन–कौन सी आर्थिक क्रियायें संचालित हैं, तथा उनमें कितना कार्य हो चुका है और कितना शेष है।

समाहर्ता के कार्यों पर प्रकाश डालते हुए कौटिल्य यह उल्लेख करते हैं कि वह निर्दिष्ट विधियों एवं मार्गों से राजकीय धन का संग्रह करे और आय–व्यय में बचत–हानि का लेखा–जोखा ठीक रखे। यदि किसी अवस्था में भविष्य में विशेष आय की आशा में पहले अधिक व्यय भी करना पड़े तो वैसा करके आय को बढ़ाये।[365]

समाहर्ता पर अपने प्रान्त से राजस्व संग्रह का भार होता था। राजस्व कई स्रोतों से वसूल किया जाता था। कौटिल्य के अनुसार समाहर्ता निम्न स्रोतों से पूरे राजस्व की वसूली करता था।[366]

1. दुर्ग (नगर), गाँव या देहात (राष्ट्र) 2. खाने (खनि)

3. बागान (सेतु) 4. वन

5. पशु (व्रज) 6. संचार के माध्यम (वणिक पथ, यातायात के मार्ग)

कौटिल्य ने आय के उपर्युक्त स्रोतों को आय–शरीर की संज्ञा दी है। जिसका विशद् विवेचन पीछे के पृष्ठों में किया जा चुका है।

राजकीय आय की प्राप्ति के प्रकार के आधार पर राजकीय आय को निम्न सात भागों में बाँटा जा सकता था, जिसे कौटिल्य आय–मुख की संज्ञा देते हैं।[367] जो निम्न प्रकार है –

1. मूल 2. भाग 3. व्याजी 4. क्लृप्त 5. परिध 6. रूपिक 7. अव्यय

इसका विशद् विवेचन भी पीछे के पृष्ठों में किया जा चुका है –

एक अन्य दृष्टि से राजकीय आय तीन प्रकार की थी[368]

(1) **वर्तमान** – प्रतिदिन की आय को वर्तमान आय कहा जाता था,

(2) **पर्युषित** – गत वर्ष के व्यय से प्राप्त धन अथवा गत वर्ष का बकाया वसूल किया गया धन अथवा शत्रु देश से प्राप्त धन पर्युषित आय कहा जाता था।

(3) **अन्यजात** – भेंट, उपहार, लावारिस धन, करो के अतिरिक्त अन्य उपायों से प्राप्त धन तथा अन्य साधनों से होनी वाली आय को अन्यजात–आय की कोटी में रखा जाता था।

समाहर्ता विभिन्न स्रोतों से प्राप्त आय का केवल निरीक्षण ही नहीं करता था, अपितु वह इस राजकीय आय को एकत्रित करवाने का भी पूर्ण प्रबन्ध करता था। इस कार्य हेतु कई विभागों की व्यवस्था की गई थी। ये विभाग राजकीय करों को एकत्रित करते थे तथा इनमें इनमें से कुछ व्यापार, उद्योग और व्यवसाय का संचालन भी करते थे। प्रत्येक विभाग का एक अध्यक्ष होता था। ये सभी अध्यक्ष समाहर्ता के अधीन कार्य करते थे तथा अपने कार्य के लिए उसके प्रति उत्तरदायी होते थे। इनमें प्रमुख अध्यक्ष निम्न थे –

(1) **शुल्काध्यक्ष**[369] – यह चुँगी आदि एकत्रित करने का कार्य करता था,

(2) **पौत्वाध्यक्ष**[370] – इसका कार्य तौल एवं माप के परिमाणों पर नियन्त्रण रखना था।

(3) **मानाध्यक्ष**[371] – दूरी और काल सम्बन्धी नियमों का पालन कराना इसके कार्य क्षेत्र में आता था।

(4) **सूत्राध्यक्ष**[372] – यह सूत, कवच, वस्त्र, रस्सी आदि उद्योगों का संचालन करता था।

(5) **सीताध्यक्ष**[373] – कृषि विभाग का कार्य तथा राजकीय भूमि पर कृषि करवाना इसका दायित्व था।

(6) **सुराध्यक्ष**[374] – सुरा के निर्माण तथा विक्रय पर नियन्त्रण रखना

(7) **सूनाध्यक्ष**[375] – बूचड़खानों के निर्माण का कार्य, इसके कार्य क्षेत्र में आता था।

(8) **गणिकाध्यक्ष**[376] – राजकीय वेश्याओं तथा स्वतन्त्र वेश्याओं सम्बन्धी प्रबन्ध का कार्य इसके क्षेत्राधिकार में था।

(9) **मुद्राध्यक्ष**[377] – राज्य के प्रवेश तथा बाहर जाने पर आज्ञा पत्र (मुद्रा पत्र) देने का कार्य इसका होता था।

(10) **विवीताध्यक्ष**[378] – यह पशुओं की चरागाहों का प्रबन्ध करता था।

(11) **नावाध्यक्ष**[379] – जल मार्गों की व्यवस्था, नौकाओं व जहाजों का प्रबन्ध करना इसका प्रमुख कार्य था।

(12) **गोआध्यक्ष**[380] – गोशालाओं का निर्माण, उनका प्रबन्ध तथा उनमें आय प्राप्ति आदि की व्यवस्था करना इसका कार्य था।

(13) **अश्वाध्यक्ष**[381] – घोड़ो के रख–रखाव और उन्हें युद्ध का प्रशिक्षण देना इसका प्रमुख कार्य था।

(14) **हस्तयाध्यक्ष**[382] – हाथियों को पालने और उन्हें युद्ध के लिए प्रशिक्षण देना इसका प्रमुख कार्य था।

(15) **कुप्याध्यक्ष**[383] – वनों से प्राप्त औषधियों को एकत्रित करना तथा उन्हें कारखानों में भेजना, इसका प्रमुख कार्य था।

(16) **पण्याध्यक्ष**[384] – देशी एवं विदेशी व्यापार को नियन्त्रित करना, इसका प्रमुख कार्य था।

(17) **लक्षणाध्यक्ष**[385] – सिक्कों का निर्माण एवं मुद्रा पद्धति के संचालन का कार्य इसके अधीन था।

(18) **आकाराध्यक्ष**[386] – खानों से धातुओं को निकलवाने तथा उनसे विविध वस्तुओं के निर्माण आदि का कार्य आकराध्यक्ष के अधीन था।

(19) **देवताध्यक्ष**[387] – देवालयों की व्यवस्था करना इसके अधीन था।

(20) **सौवर्णिकाध्यक्ष**[388] – यह टकसाल का अध्यक्ष होता था। व्यक्तिगत रूप से सोना, चाँदी आदि धातु लेकर सिक्के ढालने का काम करता था।

उपर्युक्त विभागाध्यक्षों का विशद् विवेचन पीछे के पृष्ठों में किया जा चुका है।

समाहर्ता आय के साथ–साथ व्यय की व्यवस्था भी करता था। कौटिल्य ने व्यय शरीर के अन्तर्गत इसका विवेचन किया है, जिसका विशद् विवेचन पूर्व के पृष्ठों में किया जा चुका है।

अक्षपटलाध्यक्ष – आय–व्यय की जाँच और उनका हिसाब रखने के लिए समाहर्ता के अधीन एक ओर विभाग होता था, जिसे **अक्षपटल** कहते थे, **जिसकी तुलना वर्तमान में लेखा विभाग से कर सकते हैं**। इस विभाग के अध्यक्ष को **अक्षपटलाध्यक्ष** कहा जाता था, **जिसकी तुलना वर्तमान में महालेखाधिकारी से की जा सकती है।** इस विभाग के कार्यों को सम्पादित करने के लिए इसके अधीन अनेक अधिकारी होते थे। राजधानी में राजस्व व्यवस्था का प्रधान कार्यालय होता था। जनपदों में भी ऐसे कार्यालय थे जिसके अध्यक्षों की तुलना वर्तमान लेखाधिकारी से की जा सकती है।

अक्षटलाध्यक्ष कार्यालय, जनपदों में स्थित छोटे कार्यालयों के हिसाब–किताब देखता था। छोटे कार्यालयों में भी जनपद सम्बन्धी आय–व्यय के सभी विवरण रखे जाते थे। इन कार्यालयों के अध्यक्ष प्रधान कार्यालय के प्रति उत्तरदायी होते थे। इनके कार्यों का निरीक्षण होता था। कौटिल्य के अनुसार अक्षपटलाध्यक्ष द्वारा निर्धारित समय पर क्षेत्रीय कार्यालयों के निरीक्षण के लिए यदि विभागीय अध्यक्ष कार्य का हिसाब–किताब निरीक्षण कराने में असमर्थ होता था, तो उसे दण्डित किया जाता था, तथा उसे प्रथम साहस का दण्ड दिया जाता था।[389]

कर्मचारियों का वेतन राजकोष से दिया जाता था, अतः प्रत्येक कर्मचारी के कार्य का ब्यौरा उसके उपस्थिति रजिस्टर से देखा जाता था। कर्मचारियों के कार्यकलापों पर बड़ी निगरानी रखी जाती थी। गुप्तचरों का प्रयोग करके भी अध्यक्ष द्वारा इनसे सम्बन्धित जानकारी प्राप्त की जाती थी। इस बात का पूरा ध्यान रखा जाता था कि ये कर्मचारी भ्रष्टाचार न करें। ऐसा करने पर उन्हें अपराधानुसार दण्ड दिया जाता था।[390]

क्षेत्रीय कार्यालयों में कार्य करने वाले सभी गणनाधिकारी आषाढ़ महीने में वर्षभर का कार्य दिखाने के लिए अक्षपटल में उपस्थित होते थे। ये अपने रजिस्टरों में दर्ज विवरण की जाँच करवाते थे तथा इनके लिए यह आवश्यक था कि ये हिसाब को बचत रीति से लिखे[391] जो कर्मचारी आय–व्यय के विवरण को गलत लिखते थे, उन्हें भी कठोर दण्ड दिया जाता था। क्षेत्रीय कार्यालय का हिसाब–किताब यदि समय पर अक्षपटल में नहीं दिखाया जाता था, तो सम्बन्धित अध्यक्ष दण्ड का भागी होता था। अगर कोई अध्यक्ष राजकीय धन का गबन कर लेता था तथा उसे प्रदान करने में असमर्थ होता था तो वह धन क्रमशः उसके हिस्सेदार, उसके जामिन, उसके अधीनस्थ कर्मचारी, उसके पुत्र एवं भाई, उसकी स्त्री एवं लड़की अथवा उसके नौकरों से वसूल कर लिया जाता था।[392]

राजकीय धन का अपहरण न हो, इसी कारण निपुण गुणी और यशस्वी को ही अध्यक्ष पर पर नियुक्त किया जाता था। **इस प्रकार स्पष्ट है कि तत्कालीन अक्षपटलाध्यक्ष के कार्य वर्तमान कालीन महालेखापरीक्षक के समान ही थे।** किसी भी कर्मचारी या अधिकारी के खिलाफ शिकायत होने पर भी सम्बन्धित अधिकारियों से पूछताछ की जाती थी। अभियुक्त को स्वयं ही निर्दोष सिद्ध करना होता था, अन्यथा दण्ड पाता था। सूचक के सही न पाये जाने पर वह भी दण्ड का भागी होता था और सही पाये जाने पर उसे अपहृत धन का छठा भाग दिया जाता थ्ज्ञ।[393]

(2) सन्निधाता (कोषमंत्री) – समाहर्ता का पूरक पदाधिकारी सन्निधाता होता था, जो राजस्व के जमा होने पर राजकोष में उसके आने पर उसकी जिम्मेदारी संभालता था। राधाकुमुद मुखर्जी[394] के अनुसार समाहर्ता तो कार्यकर्त्ता तथा पैसा खर्च करने वाला अधिकारी होता था पर सन्निधाता का काम पैसा बचान और राजस्व जमा करके रखना था। राजस्व जिन वस्तुओं के रूप में प्राप्त होता था, उनके अनुकूल उसे उचित इमारतें तथा कक्ष बनवाने पड़ते थे, जिसमें राजस्व जमा करके रखा जा सके। सन्निधाता इतना विशेषज्ञ होना चाहिए कि वह सौ साल पहले की भी राजस्व सम्बन्धी जानकारी और बचत की राशि बता सके। वह इस बात का सूचक है कि **इस काल में राजस्व की वार्षिक सांख्यकीय विवरण विवरणी तैयार करने की नियमित व्यवस्था थी।**

सन्निधाता के अधीन अनेक उप विभाग कार्य करते थे। इन विभागों के कर्मचारी सन्निधाता के विश्वस्त व्यक्ति होते थे, तथा प्रत्येक समय की कोष सम्बन्धी जानकारी इसे उपलब्ध कराते रहते थे। कौटिल्य के अनुसार सन्निधाता पिछले 100 वर्षों के बाह्य और आन्तरिक आय की पूरी जानकारी रखें और जब उसे इस सम्बन्ध में पूछा जाय तो वह पुराने हिसाब–किताब के विषय में बताये।[395]

सन्निधाता के अधीन निम्न उपविभाग थे।[396]

(1) **कोषगृह** – इसमें राजस्व के रूप में प्राप्त होने वाले बहुमूल्य रत्न, सोना आदि जमा किया जाता था। इसके अध्यक्ष को कोषाध्यक्ष कहते थे।

(2) **पण्यगृह** – जहाँ बिक्री का माल (विक्रय द्रव्य) रखा जाता था, इसका अध्यक्ष पण्याध्यक्ष होता था।

(3) **कोष्ठागार** – राज्य का अन्न भण्डार जिसमें खाने–पीने की चीजें, अन्न तेल आदि जमा किया जाता था। इसके अध्यक्ष को कोष्ठागाराध्यक्ष कहते थे।

(4) **कृत्यगृह** – जहाँ राजस्व के रूप में आने वाली हर प्रकार की वन सम्पदा जमा की जाती थी।

(5) **आयुधागार** – इस विभाग का अध्यक्ष आयुधागाराध्यक्ष कहलाता था। यह अपनी देख–रेख में सब प्रकार के अस्त्र–शस्त्रो को सुरक्षित रखता था।

(6) **बन्धनागार या बन्दगृह (जेल खाना)** – धर्म न्यायाधीशों और महामात्रों से सजा प्राप्त पुरुषों और स्त्रियों के लिए व्यवस्थित कारागार थे। इस विभाग का प्रमुख बन्धनागाराध्यक्ष कहलाता था।

इस प्रकार सन्निधाता एक प्रकार का कोषाध्यक्ष था, जिसका प्रमुख कार्य साम्राज्य के विभिन्न प्रदेशों में कोषगृह और कोष्ठागार बनवाना और नकद तथा अन्न के रूप में प्राप्त होने वाले राजस्व की रक्षा करना था।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र से दृष्टिगत होता है कि मौर्यों के ग्राम'–प्रशासन का मुख्य प्रयोजन राजस्व का ठीक निर्धारण और वसूली था। जनपद का प्रधान अधिकारी समाहर्ता प्रमुख रूप से राजस्व निर्धारण के लिए उत्तरदायी था। इस कार्य में उसकी सहायता स्थानीय और गोप करते थे, जो राजस्व–निर्धारण और वसूली में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते थे। जबकि नागरिक से नगर की राजस्व पैजी बनाने की अपेक्षा की जाती थी।

इस काल की राजस्व व्यवस्था की उल्लेखनीय विशेषता यह है कि वसूल किए गए करों की जिसों को रखने और राशियों को जमा कराने की अपेक्षा कराधान को अधिक महत्व दिया गया है। राज्य को राजकोष तथा राजभंडार के मुख्य अधिकारी सन्निधाता से होने वाली हानि की अपेक्षा कराधान व्यवस्था का मुख्य अधिकारी समाहर्ता से होने वाली हानि को अधिक गंभीर माना गया है। वास्तव में कराधान तंत्र की व्यवस्था सर्वप्रथम मौर्यकाल में ही दृष्टिगत होती है।

राजकोषीय नीति

मौर्यकाल में राज्याभिषेक के समय राजा के संस्कार आरोपित किये जाते थे, उनका यह प्रयोजन था कि राजा सदैव अपनी प्रजा को सुख–समृद्धि और कल्याण की कामना के लिए प्रयत्नशील रहे। कौटिल्य के अनुसार राजा को यह शिक्षा दी जाती थी कि यह राष्ट्र तुम्हें सौपा जाता है। तुम इसके संचालक, नियामक और उत्तरदायित्व के दृढ़ वहनकर्ता हो। यह राज्य तुम्हें कृषि के कल्याण, सम्पन्नता, प्रजा के पोषण के लिए दिया जाता है।[397]

प्रजा के हित में इन सब कार्यों को करने के लिए और विशेष रूप से सुरक्षा प्रदान करने के लिए राजा प्रजा से कर आदि के रूप में कर वसूल करता था। इस समझौते के अन्तर्गत राजकोषिय नीति को निर्धारित करने का कार्य यद्यपि मूलतः राजा का ही था, लेकिन क्योंकि उस काल में राजा प्रत्येक महत्वपूर्ण कार्य मन्त्रिपरिषद् के परामर्श से ही करता था, अतः स्पष्ट है कि राज्य के सारे आय–व्यय पर मन्त्रिपरिषद् का ही अधिकार था।

कौटिल्य के अनुसार प्रत्येक विषय को पाँच अंगों में विभाजित करके उस पर मन्त्रणा करनी चाहिए।[398]

मौर्यकाल में राजकोषीय नीति का निर्धारण मन्त्रिपरिषद् के अधिकार क्षेत्र में सन्निहित था। मन्त्रिपरिषद् से ही राज्य की समृद्धि हेतु कृषि, व्यापार, उद्योग, सेना आदि विषयों से सम्बन्धित नियम बनाने तथा उन्हें क्रियान्वित करने का अधिकार प्रदान प्राप्त था। मौर्यकाल में मन्त्रिपरिषद् की कार्यवाही को गुप्त रखा जाता था।

इस प्रकार मौर्यकाल में सर्वप्रथम एक सुसंगठित आदर्श राजस्व व्यवस्था का प्रतिपादन हुआ, जिसमें परिवर्ती काल में परिवर्तन एवं संशोधन परिलक्षित होता है।

सन्दर्भ

1. महाभारत, शान्ति पर्व, अध्याय, 59, 68, 69 वन पर्व 1.50 वन पर्व 67.35, वार्तामूलोऽयं लोकस्य तया वै धार्यते सदा। तत्सर्वम् वर्तते सम्यग्यथा रक्षति भूमिपः।।

2. कौ. अर्थशास्त्रः 1.4, कृषि, पशुपाल्या, वाणिज्या च वार्ता। धन्य पशुहिरण्य कुप्यविष्टिप्रदाना–दौपकारिकी। तया स्वपक्षं परपक्षं वा वशीकरोतिकोशदण्डाभ्याम्।।
3. अर्थशास्त्र, 1.11, वृत्तोपनयनस्त्रीयम् आन्वीक्षिकी च शिष्टेभ्यः वार्ताम् अध्यक्षेम्भः, दण्ड नीति वाक्यप्रयोक्तृभ्यः।।
4. रुमिनदेई स्तम्भ लेख (बसाक, आर.जी.अशोक अभिलेख, पृ. 151)
5. आर.आई.मीत्रा, बीबलियोयिका इण्डिका अध्याय–3, पृ. 31
6. कौ. अर्थशास्त्र टप्प्1
7. वही, 5.31
8. कोषपूर्वाः सर्वारम्भाः। तस्मात् पूव्र कोशमवेक्षेत। वही 2/8
9. आकरप्रभवः कोषः कोशाद् दण्डः प्रजायते। पृथिवी कोशदण्डाभयाम् प्राप्यते कोशभूषणा। कौ. अर्थ. 2/12
10. कोशमूल्यों हि दण्डः। कोषभावे दण्डः पर गच्छति। स्वामिनं व हन्ति।....कोशो धर्म कामहेतुः।। कौ. अर्थ. 2/12
11. धर्मधिगतः पुर्वैः स्वयं का हेक्यूरूरय प्राय ख्तित्ररत्नहिरण्यो दीर्घामत्यापदमनायति सहेतेति कोशसम्पत् कौ. अर्थ. 6/1
12. स्वामी – आत्मव्यजनपददुर्गकोश दण्ड मित्राणी प्रकृत्यः। कौ. अर्थ. 6/1
13. कौटिल्य अर्थशास्त्र VIII.I
14. घोषाल, यू. एन. हिन्दू रेवेन्यू सिस्टम, पृ. 16
15. कोशापूर्वा सर्वारम्भा।। तस्मात् पूव्रकोषमवेक्षेत।। कौ. अर्थ. 2/8/26/1–2
16. अल्पकोशो हि राजा पोरजानपदानेव ग्रसते।। वही 2/1/19/18
17. धर्माधिगत पूर्वे स्वयं व हेमरूप्यप्रायश्चित्तस्थूल रत्नहिरण्यो दीर्घामत्यापदमनायति सहेति कोशसम्पत, वही, 6/1/96/10
18. मुखर्जी राधामुकुन्द, चन्द्रगुप्त मौर्य और उसका काल, पृ. 125
19. कौ. अर्थ. 2/6/24/9
20. वही 2/6/24/10
21. समाहर्ता दुर्ग, राष्ट्रं खनि सेतु वनं वज्र वणिकपथ चावेक्षेत कौ. अर्थ 2/6
22. कौ. अर्थ 2/2
23. वही, 2/20
24. वही, 2/19
25. वही, 2/36
26. वही, 2/34
27. वही, 2/25
28. वही, 2/20
29. वही, 3/8, 3/9
30. वही, 2/4
31. वही, 2/6, शुल्क दण्ड पौतवं नागरको लक्षणाध्यक्षो मुद्राध्यक्षः सुरा सूना सूत्रं तैलं धृतं क्षार सौवर्णिक पण्यसंया वेश्या धूतं वास्तुकं कारूणशिल्पिगणो देवताध्यक्षो द्वारवाहिकादेयं च दुर्गम।
32. वही, 2/6 सीता भागो बकिः करो वणिक नदीपालस्तरो नावः पअतनं 'विवीत' वर्तनी रज्जूश्चौ रजूश्च राष्ट्रम।
33. वही, 2/24
34. वही, 3/10
35. वही, 2/21
36. डॉ. भुवनेश्वरीदत्त मिश्र : कौटिलीय राजनीति, पृ. 77
37. सीता भागो बलिः करो वणिक् नदीपालस्तरो नावःपअतनं विवीत वर्तनी रज्जूश्चौ रजूश्चं राष्ट्रम। वही, 2/6
38. वही, 2/6 सुवर्ण रजत वज्र मणि मुक्ता प्रवालशंख लोह लवण भूमि प्रस्तरप्स धावत्ः खनि।
39. वही, 2/6, पुण्य फल वाटषण्डेकेदार मूलवापास्सेतुः।
40. वही, 2/6, पशुमृग द्रव्यहस्तिवन परिग्रहोवनम्।
41. वही 2/6, गोमहिषजविक खरोष्ट्रम श्वाश्वत राश्च व्रजः।
42. वही, 2/6 सलपयो वारिपथश्च वणिक पथः
43. घोषाल, यू. एन. हिन्दू राजस्व व्यवस्था का इतिहास, पृ. 20
44. कौ. अर्थ., 2, 15
45. सीताध्यक्षः कृषित – त्रवृक्षायुर्वेद ज्ञसयतत्खोवा कौ. अर्थ, 2/24
46. सर्वधान्यपुश्पफल शाककन्द मूलपात्लीक्या क्षौम कार्पासबीजानि यथाकालं गृहणीयात्। कौ. अर्थ 2/24

47. बहुहलपरिष्कृतायाँ स्वभूमौ दासकर्मकरदण्डप्रतिकतृमिर्वा पयेत्, कौ. अर्थ 2/24
48. कर्षण यन्त्रोपकरण बलिवर्दैश्चैषामसंड्ग कारयेत कौ. अर्थ. 2/24
49. कारूभिश्च कर्मारकृट्टाकामईकरज्जु वर्तक सव्रग्राहादिभिश्च कौ. अर्थ 2/24
50. कर्मोदक प्रसाणे केदार हैमनं ग्रैष्मिक वा सस्यं स्थापयेत्, कौ. अर्थ 2/24
51. यथाकालं च संस्यादिजात जातं प्रवेशयेत्। न क्षेत्रे स्थपयेत् किंचितत्पकालमपि पण्डितः। कौ. अर्थ 2/24
52. अनग्निकास्सोदकाश्च खले स्युः परिकर्मिणः कौ. अर्थ. 2/24
53. .....प्रभेतोदकमल्पादकं वा संस्यं बापयेत। कौ. अर्थ. 2/24
54. षष्ठवात गोपालक दासकर्मकरेभ्यो यथा पुरुषपरिपायं भक्तं कुग्रात्। सपादमणिकं वेतनं च। ....कर्मानुरूप करूम्भ्यो भक्तवेतनम्। कौ. अर्थ 2/24
55. कौ. अर्थ. 2/24
56. द्रष्टव्य, घोषाल यू. एन. हिन्दू रेवेन्यू सिस्टम, पृ. 168
57. कौ. अर्थ. 2/24
58. मनु. 4/253, विष्णु 47/16, याज्ञवल्क्य 1/66, विमानवत्यु पृ. 43
59. कौ. अर्थ. 2/1
60. कौ. अर्थ. 2/24
61. कौ. अर्थ. 3/13
62. कौ. अर्थ. 1/13
63. कौ. अर्थ. 2/35
64. ....धान्यस्यांश तृतीय चतुर्थ वा याचेत यथासारय .....कौ. अर्थ 5/2
65. मनु. 7/130
66. मनु. 10/118
67. रामायण 3/16/14
68. महाभारत, शान्तिवर्ण 67/23

68 अ. हि. रे. सि. पृ. 168

69. स्ववीर्योपतीबिनो वा चतुर्थ पंच भागिताः यथेष्टमनवसितः भागं दधुरन्यत्र कृच्छेभ्यः स्वसेतुभ्यः कौ, अर्थ 2/24
70. हस्तप्रावर्तितमुदकभाँग पंचम दधुः। स्कन्ध प्रावर्तित चतुर्थम। स्त्रोतोय–प्रवर्तितं च तृतीयम्। चतुर्थ पदीसरस्तताककूपाद्वातम्। कौ. अर्थ. 2/24
71. तटाक सेतु बन्धानां नव प्रवर्तन पाँच वार्षिकः परिहारः भग्नोत्सृष्टानां चातुवार्षिकः। कौ. अर्थ. 3/9
72. अकृशतामिच्छिद्यान्येभ्यः प्रयच्देत्, कौ. अर्थ 2/1
73. धान्य पशुहिरण्यैश्चै नान नृ गहणीयता। तानयुसुखेन दधुः। कौ. अर्थ. 2/1
74. कौ. अर्थ. 2/1
75. अर्थशास्त्र 2/6, 2/35 अंग्रेजी अनु. पांचवा संस्करण, पृ. 58 एवं 159
76. एपीग्राफिया इण्डिका टण्ण
77. जनरल ऑफ दी रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ऑफ ग्रेट ब्रिटेन एवं आयरलैण्ड 1909, पृ. 466–7
78. अर्थशास्त्र पर टीका
79. अर्थशास्त्र पर टीका
80. उपहार : भिक्षाः वा
81. कौ. अर्थ, 2/35 (बलिप्रग्रहं व कुर्युः)
82. द्रष्टव्य, प्रोसीडिंग्स ऑफ इण्डिया ओरियन्टल कान्फ्रेस इलाहाबाद (1928) में यू.एन. घोषाल का शोध निबन्ध सम हिन्दू फिस्कल डिस्कस्ड
83. अर्थशास्त्र 2/6 अंग्रेजी अनुवाद पाँचवा संस्करण, पृ. 58
84. वही, 2/15, अंग्रेजी अनुवाद पांचवा संस्करण पृ. 58
85. फल वृक्षा विसंबन्धम् राजदेयम् अर्थशास्त्र भाग 1, पृ. 230
86. कौ. अर्थ. 5/2
87. कौ. अर्थ. 1/13, 2/1, 2/35, 3/10
88. यू. एन. घोषाल हिन्दू राजस्व व्यवस्था, पृ. 26
89. मनु 7/127, और महाभारत शान्ति पर्व 87/13, 14
90. कौ. अर्थ 2/7, महाभारत शान्तिपर्व 72/11
91. यू. एन. घोषाल, हिन्दू राजस्व व्यवस्था, पृ. 26

92. कौ. अर्थ. 2/35
93. जनरल ऑफ दी बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, पटना टवस XI पार्ट III. 1918, पृ. 83
94. अर्थशास्त्र पार्ट I, पृ. 230
95. अर्थशास्त्र (सम्पादक जैली), वाल्यूम II, पृ. 26
96. कौ. अर्थ. 2/35, 1/4, 8/1
97. द्रष्टव्य, कौ. अर्थ. 2/35 पर भट् स्वामी का भाष्य
98. कौ. अर्थ. 2/35, 2/7
99. कौ. अर्थ. 2/15
100. कौ. अर्थ. 10/4
101. कौ. अर्थ. 13/4
102. मुखर्जी आर. के. लोकल गर्वमेन्ट ऑफ एन्सेट इण्डिया, पृ. 146, 147
103. दण्ड विष्टि कराबाधौः कौ. अर्थ 2/1
104. कौ. अर्थ 2/35
105. घोषाल, यू. एन. हिन्दू रेवेन्यू सिस्टम, पृ. 39, 62
106. बोस, ए.एन. सोरल एण्ड रूरल इकानॉमी, वाल्यूम 2, द्वितीय संस्करण 1961, पृ. 171–172
107. महाभारत, शान्तिपर्व, 71/19
108. मनु 8/307
109. महाभारत, शान्तिपर्व 87/6
110. कौ. अर्थ. 2/15, व 9/2
111. कौ. अर्थ. 2/6
112. गणपति शास्त्री कौटिल्य अर्थशास्त्र भाग 1, पृ. 136
113. एरियन इण्डिका XI
114. महाभारत शान्तिपर्व 67/23
115. मनु. 7/120
116. कौ. अर्थ. 2/35
117. कौ. अर्थ. 5/2
118. कौ. अर्थ. 2/29
119. कौ. अर्थ. 2/6
120. चोररक्षणि सार्थतिवाह्यं गोरक्ष्यम। कौ. अर्थ. 2/34
121. शामशास्त्री, अर्थशास्त्र अंग्रेजी अनुवाद पांचवा संस्करण, पृ. 52–62
122. शामशास्त्री, अर्थशास्त्र अंग्रेजी अनुवाद पांचवा संस्करण, पृ. 58
123. चोर रज्जूः चोरग्राहकाय ग्रामोदेयमित्याहु : गणपति शास्त्री 1, पृ. 136
124. कौ. अर्थ. 2/35
125. कौ. अर्थ. 3/9
126. कौ. अर्थ. 2/15
127. अर्थशास्त्र, अंग्रेजी अनुवाद पांचवा संस्करण, पृ. 99
128. व्यय क्रियाभररिकमाकर भागेन प्रक्रयेण वा दधात्। लाधपिकमात्मना कारयेत्। कौ. अर्थ., 2/12
129. पण्य से आशय उस माल से है जो केवल बाजार के लिए तैयार किया जाता था, अथवा जो बाजार के बिक्री के लिए लाया जाता था। यह अंग्रेजी (Commodity) शब्द का पर्यायवाची है।
130. अर्थशास्त्र 2/6, 2/16, 2/35
131. अथर्ववेद 3, 29.3, वैदिक इण्डेक्स टवस प्प्ए 387
132. मनु. 8/307, 8/398, 400
133. अवदानशतक 1/199, 12
134. दिव्यावदान 34/13, 4/12, 276/2, 291/25, 201/23
135. अर्थशास्त्र 2/22
136. जातिभूमिषु पण्यानामविक्रयः। कौ. अर्थ. 2/22
137. खनिभ्यो धातुपण्यादानेषु षटद्यतमत्ययः। क्षैत्रेभ्यः सर्वसस्यादाने त्रिप–चाशत्पणः। कौ. अर्थ. 2/22

138. कौ. अर्थ. 2/22
139. पुष्पफलवाटेभ्यः पुष्पफलादाने चतुष्पन्चाशत्पणो दण्डः। कौ. अर्थ. 2/22
140. कौ. अर्थ. 2/22
141. कौ. अर्थ. 2/21
142. कौ. अर्थ. 2/21
143. द्रष्टव्य : दिव्यावदान 275/27, 276/18
144. कौ. अर्थ., 2/21
145. कूटमुद्राणा शुल्काष्टगुणो दण्डः। कौ. अर्थ. 2/21
146. कौ. अर्थ. 2/21
147. घोषाल यू. एन. हिन्दू रेवेन्यू सिस्टम, पृ. 179
148. पत्तनानुवृत्तं शुल्क भागं वणिजो दद्युः। कौ. अर्थ. 2/28
149. कौ. अर्थ. 2/28
150. आपस्तम्ब धर्मसूत्र 2/10, 26.9 (ह्रदत्त भाष्येपेतम्)
151. गौतम धर्मसूत्र 2/10, 26.9
152. बौधायन धर्मसूत्र 1/10/18/13–15
153. मनु. 8/398
154. कौ. अर्थ. 2/22
155. कौ. अर्थ. 2/22
156. ध्वजमूलमतिकान्तानां चाकृतशुल्कानां शुल्कदष्टगुणों दण्डः। कौ. अर्थ., 2/21
157. कौ. अर्थ. 2/11
158. कृत शुल्के नात्त शुल्क निवहियतो......वैदेहकान्य तच्य तावच्य दण्डः। कौ. अर्थ. 2/21,
159. कौ. अर्थ. 2/21
160. निष्क्राम्यं प्रवेश्य च शुल्कम्। कौ. अर्थ. 2/22
161. प्रवेश्यानां मूल्यपंचभागः। कौ. अर्थ. 2/22
162. पुष्पफल शाक मूल कन्दपल्लिक्सबीज शुष्क मत्स्य मांसानतं षड भाग गृहीणीयात्, कौ. अर्थ. 2/22
163. शंख वज्र मणि मुक्त प्रवाकहाराणां तज्जातपूरूर्शः कृतकर्मप्रमाण काकवेतन पॅल भिषूपतिभिः कौ. अर्थ. 2/22
164. कौ. अर्थ. 2/22
165. कौ. अर्थ. 2/22
166. पृथिवी कोषदण्डाभ्यां प्राप्येर्त कोशभूषणा – दौ अर्थ 2/16
167. अतो नवपुराणानां देशजाति चरित्रतः। पण्यानां स्थापयेच्छु एकमत्ययं चापकारतः। कौ. अर्थ. 2/22
168. परभूमिजं पण्यमनुग्रहेणाहयेत्। कौ. अर्थ., 2/16
169. आगन्तुलवणं षडभागं दद्यात....केताशुल्कं राजपण्यच्छेदानुरूपं व वैधरणं दधात्। कौ. अर्थ. 2/12
170. कौ. अर्थ. 2/16
171. अत्पालः सपादपणिकाँ वर्तनी गृहणीयात्। कौ. अर्थ. 2/21
172. कौ. अर्थ. 2/16 व 2/35
173. मनु. 7/114
174. कौ. अर्थ. 3/20
175. कौ. अर्थ. 2/16, 2/35
176. कौ. अर्थ. 2/28
177. चतुर्माषिक प्रातिवेधानिकम् कारयेत। ..... कौ. अर्थ. 2/19
178. अपति विद्ववस्यात्ययः सपतविशतिपणः दधात्य, कौ. अर्थ. 2/19
179. मुद्राध्यक्ष : मुद्रा माषकेन दधात्। कौ. अर्थ. 2/34
180. कौ. अर्थ. 2/35, 2/36
181. कौ. अर्थ. 3/20
182. कौ. अर्थ. 3/20
183. कौ. अर्थ. 2/6
184. रूपाजीवा भोगद्वपगुण मासं दधुः। कौ. अर्थ. 2/27

185. एतेन नटर्नटैक् गायक वादक वाजीवन कुशीलवरलवक सौभिक चारणानाम व्याख्याताः। कौ. अर्थ. 2/27
186. कौ. अर्थ. 2/27
187. आकाप्रभवः कोषः काशाद् दण्डः प्रजायेते। पृथिवी कोश दण्डा भयाँ प्रारचेते कोशभूषण। कौ. अर्थ. शास्त्र 2/12
188. कौ. अर्थ. 2/12
189. खारवेल शिलालेख (इपि इण्डिका XX, पृ. 72)
190. रामायण, 1/14/54ः 2/34/14, 4/24/18, 5/10/7
191. जातक 2/296.6, 4/60, 102
192. एवं मूल्य विभागं च त्याजी परिधमत्ययम्। शुल्क वैधरां रूपं रूपिकमेव च।। कौ. अर्थ. 2/12
193. कौ. अर्थ. 2/12
194. मनु. 8/39
195. विलवण मुरत्मं दण्डं दधात, अनिसृष्टटोपजीवी च अन्यत्र वानप्रस्थेभ्यः। कौ. अर्थ. 2/12
196. श्रोत्रियास्तपस्विनो विष्टयश्च भक्तलवणं हरेयुः कौ. अर्थ. 2/12
197. लवणाध्यक्षः पाकमुक्तं लवणभागं प्रक्रचं च यथाकाल सृगृहणीयत् विक्रयाच्च मूल्यं सपंत्याजीम् च कौ. अर्थ. 2/12
198. मनु. 7/62, 7/80, महाभारत, शान्तिपर्व 69/29
199. रामायण, अयोध्याकाण्ड, 100/45
200. कौ. अर्थ. 2/13, 2/6
201. कौ. अर्थ. 2/25
202. महाभारत, शान्तिपर्व, 88/14

202 अ तुल, स्ताइन, पृ. 91

203. कौ. अर्थ. 2/2 : 2/17
204. कौ. अर्थ. 2/17, 2/14, 2/10
205. स्ट्रबो XV, 1.50
206. कौ. अर्थ. 2/24
207. मोनहन, अर्ली हिस्टी
208. जातक 2/8, 4/424, 5/35
209. कौ. अर्थ. 2/15
210. यू. एन. घोषाल, हिन्दू रेवेन्यू सिस्टम्, पृ. 293
211. कौ. अर्थ. 2/23, 2/6
212. कौ. अर्थ. 2/26
213. कौ. अर्थ. 2/6, 2/26
214. पण्यधिष्ठातारः पण्यमूल्यम्.....अहनश्चाष्टमे आगे पण्याध्यक्षस्यार्पियेयुः। इन्द्र विक्रांतामिदं शेषमिति। तुलायामन लाण्डकं पार्ययेयुः। कौ. अर्थ. 2/16
215. अजस्त्रपण्यानां कालोपरोधा सड्.कुलदोषं वा नरोत्पादयेत्। कौ. अर्थ. 2/16
216. उभयं च प्रजानामुनुग्रहेण विक्रापयेत् स्थूलमकिय च लाभं प्रजानामौ पद्यामिकं वात्येत्। कौ. अर्थ. 2/16
217. महाभारत शान्तिपर्व 122/40, विभज्य दण्ड : कमर्व्यों धर्मेण न यदृच्छायाँ। दुष्टानां निग्रहो दण्डो हिरण्य बाह्यतः क्रिया।
218. अर्थशास्त्र, अंग्रेजी अनुवाद (पांचा संस्करण) पृ. 468–72
219. दण्डकर्मसू सर्वेषु रूपमष्ट पणं शतं शतावरेषु त्याजिं च विधात् पंचपणं शतम्। कौ. अर्थ. 3/17
220. कौ. अर्थ., 2/15
221. मनु. 7/138, गौतम 10/31, वशिष्ट 19/28, विष्णु 3/32
222. महाभारत, शान्तिपर्व 87/14
223. कौ. अर्थ. 2/15
224. कौ. अर्थ. 2/16, 2/15
225. जातक 2/166, रामायण 6/112, महाभारत सभापर्य, 33/7, 33/14
226. महाभारत शान्तिपर्व 61/24
227. इपिग्राफिया इण्डिका XX पृ. 72
228. रामायण, बालकाण्ड, अनुवाद एम. एन. दत्त, पृ. 18
229. महाभारत, सभापर्व 33/14, वन पर्व 248/16

230. अभिज्ञान शकुन्तलम् छठा अंक
231. आपस्तम्ब 2/6, 14, 15 गौतम 28/41 बौद्धायन 1/5, 11 वशिष्ठ 7/83–87
232. कौ. अर्थ. 2/27
233. अवदानशतक, पृ. 13
234. कौ. अर्थ. 2/6, 2/15
235. मनु. 8/33
236. कौ. अर्थ. 3/16
237. कौ. अर्थ. 3/9
238. कौ. अर्थ. 4/1
239. द्रष्टव्य गौतम 10/43/5 : वशिष्ठ 3/13–14
240. मनु 8/35–39
241. जातक 1/398, जातक संख्या 546
242. कौ. अर्थ. 2/8, महाभारत, सभापर्व 5/79
243. मनु. 8/107, 139
244. कोशमदोषः प्रत्युत्पन्नार्थकृच्छः संगुहणीयात। जनपदम महान्तल्पप्रवाणं का देवपातृकं प्रभूतधान्यं धान्यस्याशं तृतीयं चतुर्थ वायाचेत्, कौ. अर्थ. 5/2
245. कौ. अर्थ. 5/2 (वाचस्पति गैरोला)
246. कुक्कुट सूकरमर्ध दधात्। क्षुद्रपशवष्डभागम्। गोहमिषाश्वत रख–रोष्ट्राश्च दशभागम्। कौ. अर्थ. 5/2
247. सकृदेव न द्विः प्रयोज्यः। कौ. अर्थ. 5/2
248. मनु. 10/118
249. मिलिन्दपन्हो सम्पादक, वी ट्रेक्नर, पृ. 146
250. तस्याकरणे वा समाहर्ता कार्यमपदिश्य पोरजानपदान् भिक्षेत्। कौ. अर्थ. 5/2
251. यथोपकारं वा स्ववशा वा यदुपहरेयुः स्थानच्छत्रवेष्टान विभूषाश्चैषां हिरण्येन प्रचयच्छेत्। कौ. अर्थ. 5/2
252. महाभारत, शान्तिपर्व 71/22, 130/20, 136/2
253. देवताध्यक्षों दुर्गराष्ट्रदेवतानां यथास्वयेकस्यं कोशं कुग्रात् तथैव चाहरेत्। कौ. अर्थ. 5/2
254. कौ. अर्थ. 5/2
255. अवधानशतक, सम्पा, जे. एस. स्पेयर, पृ. 56
256. कौ. अर्थ. 5/2
257. पतंजलि आन पाणिनी टए 3.99
258. तुलनीय गिरनार शिलालेख ऑफ रूद्रदामन एपि. इन्फेड VIII, पृ. 42
259. आपस्तम्ब धर्मसूत्र 2/10/26–10
260. वशिष्ठ, 1/43–6, 19/23
261. कौ. अर्थ. 2/1
262. महाभारत, शान्तिपर्व 76/10
263. मनु 9/317,11/435, 7/32, महाभारत शान्तिपर्व 72/6, 9
264. यू. एन. घोषाल ए हिस्ट्री ऑफ पॉलिटिकल आइडियाज, पृ. 64
265. गौतम, 5/20–1, बौधायन 2/3, 5–19
266. महाभारत, शान्तिपर्व 76/5, 10, 136/3
267. महाभारत, शान्तिपर्व 76/5, 10, 136/3
268. महाभारत, शान्तिपर्व 56/29–30
269. कौ. अर्थ. 3/20
270. मनु. 2/229
271. कौ. अर्थ. 5/2
272. मनु. 7/133
273. एपि. इण्डिका XX, पृ. 72
274. कौ. अर्थ. 3/9
275. कौ. अर्थ. 2/1

276. कौ. अर्थ. 2/1
277. कौ. अर्थ. 2/28
278. आपस्तम्ब 2/10, 26, वशिष्ठ 19/23
279. कौ. अर्थ. 2/21
280. कौ. अर्थ. 2/16, अवदानशतक 1/119/10–12
281. कौ. अर्थ. 2/12
282. बलिषष्ठेन शुल्केन दण्डेनायापराधिनाम। शास्त्रानीतेन लि प्सेया वेतनेन धनागमम्।। महाभारत, शान्तिपर्व 71/19
283. धान्यषड्भाग पण्यदश्भागं हिरण्य चासय भागधेय भागधेयं प्रकल्पजामासुः। तेन भृता राजानः प्रानांयोगशैषवाहाः। तेषां किल्विषं दण्डकरा हरन्ति। कौ. अर्थ. 1/12 षडभागभृतो राजा रक्षेत् पजाम्। बोधयन धर्मसूत्र 1,10,1
284. रामायण, अरण्य काण्ड 6/11–14
285. मनु. 8/307–8
286. महाभारत, शान्तिपर्व 24/12, 72/19, 75/6 तथा अनुशासन पर्व 61/34–6
287. महाभारत, शान्तिपर्व 139/100 बलिषडमानमुद्धत्य बलि सुपयोजयेत्। न रक्षति प्रजाः सम्यम् यः स पार्थिवः लस्करः।
288. कौ. अर्थ. 3/1
289. मुन. 7/28
290. मनु 8/336
291. महाभारत, शान्तिपर्व 57/43–5, तथा अनुशासन पर्व, 61/31–3
292. कौ. अर्थ. 2/24
293. कौ. अर्थ. 2/24
294. मनु स्मृति 7/130
295. रुम्निदेई मिलर इस्क्रिप्सन (बसाक, अशोक इन्सक्रिप्सन) पृ. 151
296. साहगोरा कापर प्लेट इन्सक्रिपसन (एपि इण्डिका XXII, 2) (एफ. एफ)
297. कौ. अर्थ. 2/35
298. कौ. अर्थ. 3/9
299. कौ. अर्थ. 2/15, 2/19
300. महाभारत, शान्तिपर्व 119/17
301. एपि. इण्डिका गगए 72ण र्पिं सथलेक्टेज 207
302. भट्ट स्वामी आन अर्थशास्त्र II/15
303. कौ. अर्थ. 1/13
304. कौ. अर्थ. 2/9
305. कौ. अर्थ. 2/6
306. द्रष्टव्य, डॉ. जायसवाल, हिन्दू राज्यतन्त्र, भाग–2, पृ. 261–262
307. अर्थशास्त्र, 5/3 अंग्रेजी अनुवाद, पाँचवा संस्करण, पृ. 276
308. नारायण, ब्रज प्रिन्सिपल ऑफ इकानामिक्स, पृ. 314
309. ऋत्विगाचार्य मन्त्रि सेनपापति सुवराज मातृ राज महिष्योडष्ट चत्वारिशंत्सहस्त्राः। एतावता भरणोनानास्वाद्य त्वमकोपकं चैषां भवति। कौ. अर्थ. 5/3
310. दौवारिकान्तर्वशिक प्रशास्तु समाहर्त सन्धिधातारश्चुविंशालसाहस्त्राः एतावता कर्मण्या भवन्ति, कौ. अर्थ. 5/3
311. कुमार – कुमारमातृनायकाः पौरत्यवाहारिक कार्यानितक कमन्त्रि परिषद् राष्ट्रान्तपालाश्च द्वादशसाहस्त्राः स्वमिपरिबन्धाबलसहाया ह्येतावता भवन्ति। कौ. अर्थ. 5/3
312. रथिकानीकस्य चिकित्साकाश्चदमक वर्धकयो योनिपोषकाश्च द्रिसाहस्त्राः। कौ. अर्थ. 5/3
313. पत्यश्वरयहस्त्यध्यक्षाः द्रव्यहस्तिवनपाकश्च चतुः साहस्त्राः। कौ. अर्थ. 5/3
314. कौ. अर्थ. 2/12
315. कर्मस्तु भृतानां पुत्र दारा भक्तवेतनं लभरेन। बालवृद्धात्याधितायचैषामनुग्राह्याः। प्रेतेव्याधि ततूतिद्वाकृर्त्यष्ठ्जु चैषायर्थमानकर्म कुर्यात्। कौ. अर्थ. 5/3
316. कौ. अर्थ. 2/4
317. षष्ठिवेतनस्याढकं कृत्या हिरण्यानुरूपं भक्तं कुर्यात्। कौ. अथर् 5/3
318. दशपणिको योजने दूतः मध्यमः दशोत्तरे द्विगुणवेतनं आयोजाशतादिति। कौ. अर्थ 5/3
319. दुर्गजनपदशक्त्या भृत्यकर्प समुदयपादेन स्यापयेत्। कार्यस्नधामहसेन वा भृत्यलायेन शरीरमवेशेत, न धर्मायो पीडयेत्। कौ. अर्थ. 5/3

320. कौ. अर्थ. 2/28
321. शिविरमार्ग सेतु कूपतीर्था शोधन कर्म...... कर्माणि। कौ. अर्थ. 10/4
322. चिकित्सकाः शस्त्रयन्त्रागदस्नेहवस्त्रहस्ताः स्त्रियश्चान्नापानरक्षिणचः पुरुषाणं युदृधर्मणीयाः पृष्ठातासतिष्ठेयुः। कौ. अर्थ. 10/3
323. कौ. अर्थ. 9/2
324. कौ. अर्थ. 9/33
325. अद गशकस्यैकः पतिः पदिकः....। कौ. अर्थ 10/6
326. कौ. अर्थ. 1/12
327. पिर्यये खरोष्ट्रोडवषलप्रायः। कौ. अर्थ. 9/1
328. मुखजी राधाकुमुद, चन्द्रगुप्त मौर्य एवं उसका राष्ट्र पृ. 203
329. .....नवभागे यथोक्त विद्यानमन्तः पुरं.........कारयेत् कौ. अर्थ. 2/3
330. कौ. अर्थ. 2/6
331. आचार्य विद्यावन्तश्च पूजावेतनानि यथार्ह लाभरेन पंचशतावरं सहस्त्रपरात्। कौ. अर्थ. 5/3
332. कौ. अर्थ. 2/1
333. बालबृद्धत्याधितव्यसन्यायांश्च राजा भ्विभृयात्। कौ. अर्थ. 2/1
334. स्त्रियचमप्रजातां प्रजातायाश्च पुत्रान्। कौ. अर्थ. 2/1
335. पुण्यस्यानारामाणं व। कौ. अर्थ. 2/1
336. धान्यपशुहिरण्यैयैनानुगृहणीयात्तान्यन्यसुखेन विधुः। कौ. अर्थ. 2/1
337. राजा देशहितान् सेतुन कुर्वतां पयि संक्रमात्। ग्रामशोभाश्च रक्षाश्च तेषं प्रियहितं चरेत्। कौ. अर्थ. 3/10
338. मैगस्थनीज का भारतवर्षीय वर्णन पृ. 1
339. सर्वातिथिमृग प्रत्यन्ते चान्यमृगवनं भूमिवशेन वा निवेशथैत्। कौ. अर्थ. 2/2
340. कौ. अर्थ. 2/6
341. कौ. अर्थ. 2/1
342. देहली–टोपरा स्तम्भ लेख, सातवाँ लेख
343. कौ. अर्थ. 4/3
344. पर्वसु च नदीपूजा कारयेत, कौ. अर्थ. 4/3
345. तीर्थभिषेचनं महाकच्छवर्धनं गवाँ, श्मशानावदोहनं कबन्धदहनं देवरात्रि च कारयेत्। दुर्भिक्षे राजा बीज भक्तोपग्रहं कृत्वानुग्रहं कुर्यात। कौ. अर्थ. 4/3
346. पशुत्याधिमरके स्थनान्यर्थरीराजनं स्वदैव तपूजनं च कारयेत्। दुर्भिक्षे राजा बीज भक्तोपग्रहं कृत्वानुग्रहं कुर्यात्। कौ. अर्थ. 4/3
347. कौ. अर्थ. 1/21
348. कौ. अर्थ. 1/21
349. कौ. अर्थ. 1/21
350. कौ. अर्थ. 1/20
351. कौ. अर्थ. 2/36
352. कौ. अर्थ. 1/20
353. कौ. अर्थ. 10/3
354. कौ. अर्थ. 2/30
355. कौ. अर्थ. 4/1
356. कौ. अर्थ. 2/24
357. कौ. अर्थ. 4/1
358. धान्यस्नेहक्षारलवणगन्ध भैषज्यद्रव्याणां समवर्णोंपधाने द्वादशपणो दण्डः। कौ. अर्थ. 4/2
359. कौ. अर्थ. 2/36
360. तटाकसेतुब्धानां नवप्रवत्तने पाँचवार्षिकः परिहारः। भग्नोत्सृष्टानां चातुर्वाषिकः। कौ. अर्थ. 3/9
361. नदी निबन्धायतनटटाक............. कौ. अर्थ. 3/9
362. कौ. अर्थ. 3/10
363. कौ. अर्थ. 2/4
364. कौ. अर्थ. 2/4
365. कौ. अर्थ. 2/6 (वाचस्पति गैरोला हिन्दी व्याख्या पृ. 123)

366. कौ. अर्थ. 2/6
367. कौ. अर्थ. 2/6 (द्रष्टव्य, वाचस्पति गैरोला की हिन्दी व्याख्या, पृ. 120)
368. कौ. अर्थ. 2/6
369. कौ. अर्थ. 2/21, 2/22
370. कौ. अर्थ. 2/19
371. कौ. अर्थ. 2/20
372. कौ. अर्थ. 2/23
373. कौ. अर्थ. 2/24
374. कौ. अर्थ. 2/25
375. कौ. अर्थ. 2/26
376. कौ. अर्थ. 2/27
377. कौ. अर्थ. 2/34
378. कौ. अर्थ. 2/33
379. कौ. अर्थ. 2/28
380. कौ. अर्थ. 2/29
381. कौ. अर्थ. 2/30
382. कौ. अर्थ. 2/31
383. कौ. अर्थ. 2/17
384. कौ. अर्थ. 2/16
385. कौ. अर्थ. 2/12
386. कौ. अर्थ. 2/12
387. कौ. अर्थ. 2/6
388. कौ. अर्थ. 2/14
389. कौ. अर्थ. 2/17
390. कौ. अर्थ. 2/7
391. कौ. अर्थ. 2/7
392. कौ. अर्थ. 2/7
393. कौ. अर्थ. 2/8
394. मुखर्जी राधाकुमुद, चन्द्रगुप्त मौर्य एवं उसका काल, पृ. 124
395. बाह्यमाभ्यन्तरं चायं विद्यात वर्षशतादपि। यथापृषो न सज्येत व्ययशेषं च दर्शतेत।। कौ. अर्थ. 2/5
396. सन्निधाता कोशगृहं पण्यगृहं कोष्ठागारं कुप्यगृहमायुधागाँर बन्धमागाँर च कारयेत्। कौ. अर्थ. 2/5
397. शुक्ल यजुर्वेद 9/22
398. कर्मणभारम्भोपायः पुरुषद्रव्यसंपददेशकाल विभागे विनिपात प्रतिकारः कार्यसिद्धि रिति पंचोगे, मन्त्र। कौ. अर्थ. 1/15